इन पत्रोंके कुछ चुने हुए विषय

॥ श्रीहरिः ॥

लोक-परलोकका सुधार

कामके पत्र

[द्वितीय भाग]

(१)

श्राद्धकी आवश्यकता

आपका कृपापत्र मिल गया, उत्तर लिखनेमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है—

प्रश्न—क्या पितरोंका श्राद्ध करना जरूरी है ?

उत्तर—हाँ, बहुत जरूरी है। जो सन्तान अपने पितरोंके लिये श्राद्ध-तर्पण नहीं करती, वह कृतघ्न है; और नरकगामिनी होती है। अतएव श्रद्धापूर्वक श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। श्राद्धमें विधिके साथ-साथ श्रद्धाकी भी बड़ी आवश्यकता है। असलमें श्रद्धासे ही श्राद्ध होता है। शास्त्रमें कहा है—'जो मनुष्य श्राद्ध नहीं करता, वह अन्त्यजयोनिमें उत्पन्न होकर दरिद्रताको प्राप्त होता है।'

प्रश्न—पितर किनको कहते हैं ?

उत्तर—यों तो ब्रह्माजी सबके पितामह कहलाते हैं, कश्यप आदि प्रजापति भी सबके जन्मदाता होनेसे पितर हैं। पर मुख्यतया पितृलोक (जो भुवर्लोकका प्रखर प्रकाशयुक्त 'प्रद्यौ' नामक

अन्तरिक्षका भाग है) में रहनेवाले* द्विविध पितरोंको ही पित कहा जाता है। इनमें पहले पितृलोकके नियामक और अधिकार अग्निष्वात्तादि 'दिव्य पितर' हैं, और दूसरे 'मनुष्य पितर' हैं ज मरनेके बाद पितृलोकमें जाते हैं और श्राद्धादिमें वेदमन्त्रोंद्वार जिनका आवाहन किया जाता है। वेद, वैदिकसूत्र, स्मृति, महाभार और पुराणादिमें इनका विस्तृत वर्णन है। हमारे यहाँ श्राद्ध तर्पणके समय केवल अपने जन्मदाता पितरोंको ही पिण्ड और तर्पणा-ञ्जलि नहीं दी जाती, बल्कि सभीको दी जाती है। यहाँतक कि सारे विश्वके प्राणीमात्रकी तृप्तिके लिये पिण्ड और जलाञ्जलि दी जाती है। परन्तु 'पितृ' शब्दका मुख्य अर्थ है जन्म देनेवाले माता-पिता आदि ही।

प्रश्न—श्राद्धका अर्थ माता-पिताके जीवनकालमें उनकी सेवा करना, उन्हें खिलाना-पिलाना आदि न करके मरनेपर उनके लिये ब्राह्मण-भोजन कराना, पिण्डादि देना क्यों किया जाता है ?

उत्तर—अर्थ ही नहीं किया जाता, ऐसी ही बात है। जीवन-कालमें तो माता-पिता आदिकी सेवा-शुश्रूषा करनी ही चाहिये। मरनेपर जब वे 'आतिवाहिक' देह धारण करके पितृलोक आदिमें जाते हैं, उस समय उनकी भूख-प्यास मिटानेके लिये सन्तानद्वारा किये हुए श्राद्ध-तर्पण ही प्रधान साधन होते हैं। यहाँपर यह भी बतला देना आवश्यक है कि मनुष्य जब मर जाता है अर्थात् जब इस पञ्चीकृत महाभूतोंसे गठित पार्थिवतत्त्वप्रधान स्थूलशरीरको त्याग

* 'तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते।'

(अथर्ववेद १८। २। ४८)

कर सूक्ष्मशरीरयुक्त चेतन जीव निकल जाता है तब उसको अपने कर्मानुसार इन चार प्रकारकी गतियोंमेंसे कोई-सी एक गति प्राप्त होती है—१. भगवत्स्वरूपके यथार्थ ज्ञानके द्वारा सारी कर्मराशिका क्षय हो जानेके कारण सूक्ष्म शरीरका कारणदेहसहित नाश हो जाना और जीवका आत्मस्वरूप परमात्मामें एकत्वको प्राप्त हो जाना। इसीका नाम कैवल्य या सायुज्य मुक्ति है। अथवा भगवत्स्वरूपके यथार्थ ज्ञानके साथ ही भगवत्प्रेमकी प्रधानताके कारण प्रत्यक्ष सेवाधिकार प्राप्त करके दिव्य भागवती शरीर धारण कर वैकुण्ठ, साकेत, गोलोक, कैलास आदि नामोंसे प्रख्यात भगवान्के नित्य दिव्य चिन्मय धामको प्राप्त हो जाना।

२. निष्काम कर्मानुष्ठान, सत्पुरुषसेवन आदिके द्वारा अधिकार-सम्पन्न होकर क्रममुक्तिके अपुनरावर्ती शुक्लपथ या अर्चिमार्गसे देवताओंद्वारा सम्मान प्राप्त करते हुए ब्रह्मलोकको जाना और ब्रह्माजीकी आयुपर्यन्त वहाँके दिव्य भोगोंको भोगकर ब्रह्माजीके साथ ही मुक्त हो जाना।

३. सकाम पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानसे अधिकारसम्पन्न होकर स्वर्गादि सुख-भोगके लिये पुनरावर्ती कृष्ण-पथ या धूममार्गके द्वारा स्वर्गादि लोकोंको प्राप्त होना।

४. पापकर्मोंके कारण बाध्य होकर यमदूतोंके द्वारा यमलोक या प्रेतलोक आदिमें जाकर वहाँकी दुःसह यातनाओंको भोगना।

इन चार प्रकारकी गतियोंमें पहली गतिमें तो प्राणोत्क्रमण करते ही नहीं। कारण सूक्ष्म शरीरका भङ्ग हो जाता है। सायुज्य-मुक्तिमें अलग कुछ बचता ही नहीं। भगवद्धामकी प्राप्तिमें भी 'अप्राकृत भागवत तनु' मिल जाता है। वह अलग होनेपर भी वास्तवमें भगवान्के साथ

अलग नहीं होता । वहाँकी बात समझायी नहीं जा सकती । सारांश यह कि वह स्थिति अत्यन्त विलक्षण, हमारी प्राकृत मन-बुद्धिसे अगोचर, अनिर्वचनीय और अचिन्त्य सर्वथा भगवदीय होती है इसलिये वहाँ प्राकृत किसी भी शरीरकी आवश्यकता ही नहीं होती । दूसरी, अर्चिमार्गकी अपुनरावर्ती गतिमें भी क्रमशः दिव्यता प्राप्त होती रहती है । ज्यों-ज्यों जीवका ऊर्ध्वगमन होता है त्यों-ही-त्यों उसकी जडता नष्ट होती चली जाती है । वहाँ उसकी देह शुद्ध, सूक्ष्म, तेजःप्रधान तत्त्वोंके द्वारा निर्मित होती है ।

रहे पुनरावर्ती धूममार्ग और यमधामका मार्ग । इनमें शरीरकी आवश्यकता होती है । मनुष्यके मरनेके बाद ही उसी क्षण उसे स्थूल पाञ्चभौतिक शरीर नहीं मिल जाता । उसमें कुछ समय लगता है । वह समय बहुत थोड़ा भी हो सकता है और बहुत लंबा भी । कर्मोंके अनुसार ही कर्मफल भुगतानेवाली भागवती शक्तिके द्वारा उसकी व्यवस्था होती है । इस बीचके समयमें सूक्ष्मशरीरयुक्त जीवको एक शरीरकी प्राप्ति होती है । उस शरीरका नाम होता है 'आतिवाहिक' । वह देखनेमें स्थूल शरीरके जैसे ही रूप-रंग और आकारका होता है, जीव उसीका आश्रय करके नरकादिकी पीड़ा और स्वर्गादिके भोग भोगता है । यह आतिवाहिक शरीर मरनेके बाद तुरन्त ही मिल जाता है—

तत्क्षणादेव गृह्णाति शरीरमातिवाहिकम् । (विष्णुधर्मोत्तर)

यह शरीर पृथ्वीतत्त्वप्रधान नहीं होता । क्योंकि ऊर्ध्वकी ओर जाते ही पाँच भूतोंमेंसे प्रायः दो भूत—पृथ्वी और जल नीचे रह जाते हैं और तीन भूत अग्नि, वायु और आकाश ही उसके शरीरमें रह जाते हैं ।

ऊर्ध्वं व्रजन्ति भूतानि त्रीण्यस्मात्तस्य विग्रहात् ।

इसीसे इस शरीरमें अस्थि, मेद, मज्जादि नहीं होते। यह आरम्भमें वायुप्रधान होता है। कर्मानुसार आगे चलकर इसके दो रूप हो सकते हैं—नरकभोगके लिये 'यातना-देह' और स्वर्गादि-भोगके लिये 'देव-देह'। जिस मनुष्यके पाप अधिक होते हैं उसे 'यातना-देह'की प्राप्ति होती है। इस देहके द्वारा वह नरकोंकी भीषण यातनाएँ भोगता है। यह शरीर ऐसा होता है कि इसमें पीड़ाका अनुभव होता है परन्तु मृत्यु नहीं होती। जैसे आगमें जलनेका अनुभव होता है, परन्तु जलकर खाक नहीं हो जाता। साँपोंके डसनेसे पीड़ा होती है परन्तु मर नहीं जाता। इसीसे इसका नाम 'यातना-देह' है। यह वायुप्रधान ही रहता है। इसके विपरीत जिसके पुण्यकर्म अधिक होते हैं, उसे अग्नि-तत्त्वप्रधान प्रकाशमय देवदेहकी प्राप्ति होती है, इसके द्वारा वह स्वर्गादिके देवभोगोंको भोगकर कर्मक्षय होनेपर कर्मानुसार विभिन्न स्थूल योनियोंको प्राप्त होता है। इन शुक्ल-कृष्ण मार्गोंका और स्वर्गादिसे गिरने तथा योनियों-के प्राप्त होनेका वर्णन बृहदारण्यक और छान्दोग्योपनिषद्में तथा श्रीमद्भागवतमें देखना चाहिये। गीतामें भी भगवान्ने कहा है—

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
(९।२१)

'वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर पुण्य-क्षय होनेपर पुनः मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं।'

जो लोग स्वर्गादिमें जाते हैं, उनके लिये भी श्राद्ध-तर्पणादिकी जरूरत है, क्योंकि इससे उनको वहाँ पुष्टि-तुष्टि और बल मिलता है। परन्तु जो लोग यमलोकके नरकादिमें जाते हैं, वे तो भूख-प्याससे

अत्यन्त पीड़ित रहते हैं। उनके लिये तो पिण्डदान, श्राद्ध-तर्पणादि-की बहुत ही आवश्यकता है।

प्रश्न—यहाँका पिण्डदान, श्राद्ध-तर्पण आदि दूसरे लोकमें पितरोंको कैसे प्राप्त होता है ? और कैसे उनकी उससे तृप्ति होती है ? मान लीजिये; किसीकी मुक्ति हो गयी तो फिर उसके लिये जो श्राद्ध किया जाता है, वह तो व्यर्थ ही जायगा। साथ ही, दूसरी स्थूल योनि प्राप्त होनेपर भी उसका कोई उपयोग नहीं है। फिर सबके लिये श्राद्धादि क्यों करने चाहिये ?

उत्तर—इस बार आपने एक ही साथ बहुत-सी बातें पूछ ली हैं। संक्षेपमें एक-एकका उत्तर ध्यानपूर्वक पढ़िये। तृप्ति दो प्रकारकी होती है—शारीरिक और मानसिक। किसी भूखेको आप कुछ खानेको दीजिये, प्यासेको जल पिलाइये, थके हुएके अङ्ग दबा दीजिये, गर्मीके मारे घबराये हुएको पंखा झल दीजिये। इनसे जो एक शान्ति मिलती है वह शारीरिक तृप्ति है। और शोकमें किसीको ज्ञानयुक्त मधुर भाषणसे समझाइये, डरे हुएको अभयदान दीजिये, निराशको सान्त्वना देकर आश्रय दीजिये, यह मानसिक तृप्ति है। श्राद्ध-तर्पणादिसे दोनों ही प्रकारकी तृप्ति होती है। यहाँ हम पितरोंके लिये जो कुछ भी दान करते हैं, उनको वहाँ उन्हींके काममें आनेयोग्य रूपमें परिणत होकर वह मिल जाता है। जैसे मान लीजिये—आप अपने किसी मित्रको अमेरिका रुपये भेजना चाहते हैं, तो आप कैसे भेजेंगे। रुपयोंका पारसल करेंगे तो वे रुपये वहाँ काम नहीं आवेंगे, क्योंकि यहाँका सिक्का वहाँ चलता ही नहीं। अतएव आप पोस्ट-आफिसमें या किसी एक्सचेंज बैंकमें रुपये जमा

करा देंगे और वहाँ सूचना भिजवा देंगे तो वहाँकी पोस्ट-आफिससे या बैंकसे वहाँके उतने ही मूल्यके सिक्के उन्हें मिल जायँगे। इसी प्रकार हम यहाँ पितरोंके उद्देश्यसे जो कुछ भी विधि-श्रद्धापूर्वक देते हैं, उन्हें वह वहाँके अनुरूप होकर मिल जाता है।

श्रद्धासमन्वितैर्दत्तं पितृभ्यो नामगोत्रतः।
यदाहारास्तु ते जातास्तदाहारत्वमेति तत्॥
(विष्णुपुराण ३।१६।१६)

'श्रद्धावान् पुरुषोंके द्वारा नाम और गोत्रका उच्चारण करके जो कुछ अन्न दिया जाता है वह पितरोंको वे जैसे आहारके योग्य होते हैं, वैसा ही होकर उन्हें मिल जाता है।' आपको यहाँ जो कुछ भी भोग मिल रहे हैं—यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है। यह सारा आपके कर्मोंका फल है और वह कर्मोंका नियन्त्रण करनेवाली और यथायोग्य फल भुगतानेवाली भागवती शक्तिके द्वारा नियुक्त चेतन देवताओंके द्वारा दिया जा रहा है। वे देवता ही मनुष्यके 'अपूर्व' के अनुसार उसके लिये यथायोग्य भोगोंकी व्यवस्था करते हैं और उसी रूपमें करते हैं जिस रूपमें यहाँ वह उसके काममें आ सके। इसी प्रकार जब आप यहाँ पितरोंके उद्देश्यसे भोजन, जल या पिण्ड आदि जो कुछ वस्तु भी दान करेंगे, उसी क्षण वे कर्मफलदाता नियामक देवता (अग्निष्वात्तादि नित्य पितर) उस वस्तुको—आपने जिस लोकके जिस प्राणीके लिये उसे दान किया है—उस लोकके उसके भोगयोग्य रूपमें परिणत करके उसको प्राप्त करा देंगे। इन देवताओंको इस बातका पूरा पता रहता है कि कौन जीव इस समय कहाँ

किस लोकमें, किस शरीरमें और किस अवस्थामें है। अतएव इन्हें उसके पास उस वस्तुको तदनुरूप रूपान्तर करके पहुंचाते जरा भी देर नहीं लगती। यह तो हुई शारीरिक तृप्तिकी बात।

इसी प्रकार पितरोंकी मानसिक तृप्तिके लिये आप यहाँ जो कुछ कीर्तन, स्वाध्याय, प्रणाम आदि करेंगे या सान्त्वनावाक्योंका उच्चारण करेंगे उससे उनकी मानसिक तृप्ति हो जायगी। आप यहाँ जो कुछ भी बोलते हैं—वह नष्ट नहीं होता, सब आकाशमें चला जाता है। रेडियोकी बात आप जानते ही हैं। कितनी दूरके शब्द कितनी दूरतक उसी क्षण स्पष्ट सुनायी देते हैं। इन शब्दोंको जो वहन करके लाती है, वह आकाशतत्त्वकी शक्ति है। उसे वैज्ञानिक लोग 'ईथर' कहते हैं। नियामक देवता इसी प्रकारकी शक्तिके द्वारा आपकी क्रियाको तुरंत वहाँ पहुँचा देते हैं। जैसे जीवित माता-पितादिके चरणोंमें प्रणाम करनेसे उन्हें प्रसन्नता होती है, सुख मिलता है, वैसे ही यदि आप पितरोंको प्रणाम करते हैं तो इस बातको उपर्युक्त रीतिसे जाननेपर उन्हें भी सुख मिलता है,—उनकी मानसिक तृप्ति होती है। उनके लिये की हुई आपकी प्रत्येक क्रिया सूक्ष्म आकाशमें लहराती हुई तत्काल उनतक पहुँच जाती है और उन्हें यथायोग्य मानसिक सुख-दुःख पहुँचाती है।

आपका दूसरा प्रश्न है कि मुक्ति हो जानेपर तो श्राद्ध व्यर्थ ही हो जायगा। इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो आपको पता नहीं लगता, आपके पास इसके जाननेका कोई उपाय ही नहीं कि आपके किस पितरकी मुक्ति हो गयी है अथवा कौन किस लोकमें किस योनि या किस दशामें हैं। आप मुक्त मानते हों और

बेचारे कहीं नरकोंमें पड़े हों, इसलिये श्राद्ध-तर्पणादि सभीके करने ही चाहिये। मुक्ति हो गयी होगी तो आपके किये हुए उस सत्कर्म-का फल आपके सञ्चितमें लौट आवेगा और उससे आपको यथायोग्य सुख-सम्पत्ति तथा शान्तिकी प्राप्ति होगी।

रही दूसरी योनिमें जानेकी बात, सो उसमें भी श्राद्ध-तर्पणादि का उपयोग है। वायुप्रधान और तेजप्रधान शरीरोंमें तो उन पितरोंको प्राय: यह पता रहता है कि हम अमुकके सम्बन्धी हैं, हमारी अमुक सन्तान इस समय पृथ्वीपर है। वे तो सन्तानसे श्राद्ध-तर्पणादि चाहते हैं—खास करके पितृलोक या यमलोकमें रहनेवाले वायुप्रधान शरीरवाले जीव, क्योंकि उनके क्षुधा-पिपासाकी शान्तिके साधनका प्राय: अभाव-सा रहता है। परन्तु मनुष्य, पशु, पक्षी आदि स्थूल योनियोंमें भी उनके लिये पूर्वजन्मकी सन्तानद्वारा दिये हुए पदार्थोंका उनके उस योनिके अनुरूप फल मिलता है। जैसे इस समय आपका कोई सम्बन्धी हरिन-योनिमें है—आप उसके लिये किसी श्राद्धके योग्य ब्राह्मणको हलुआ–पूरी खिलाते हैं, तो उसको वहाँ वह घासके रूपमें मिल सकता है। इसी प्रकार सबको मिलता है। उनके लिये किये हुए शान्ति-स्वस्त्ययन, स्वाध्याय, प्रणामादिसे उनको शान्ति और तृप्ति मिलती है। एक जगह आया है कि जब भगवान् श्रीकृष्ण जाम्बवान्के साथ उसकी गुफामें युद्ध कर रहे थे, तब उनके लौटनेमें बहुत समय बीत गया। बाहर बाट देखते-देखते जब साथी लोग थक गये तब उन्होंने द्वारका लौटकर अपना ऐसा अनुमान बतलाया कि सम्भवत: श्रीकृष्णका निधन हो गया है। तब घर-वालोंने उनके लिये यथायोग्य श्राद्धादि क्रियाएँ कीं।

तद्बान्धवाश्च तत्कालोचितमखिलमुपरतक्रियाकलापं चक्रुः। तत्र चास्य युध्यमानस्यातिश्रद्धादत्तविशिष्टपात्रोपयुक्तान्नतोयादिना कृष्णस्य बलप्राणपुष्टिरभूत्।

'श्रीकृष्णके बन्धुओंने समयोचित सारी क्रियाएँ कीं। श्रीकृष्णके समान सर्वश्रेष्ठ पुरुषके उपयुक्त अत्यन्त श्रद्धाके साथ जो अन्न-जलादि दिये गये, उनसे युद्धमें लगे हुए श्रीकृष्णको बल, प्राण और पुष्टि प्राप्त हुई।' यद्यपि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् थे, उन्हें बल, पुष्टि क्या मिलती। परन्तु शास्त्रमर्यादाके अनुसार लीलाके लिये ऐसा मानना उचित ही है। इसलिये हर हालतमें श्राद्ध करना ही चाहिये।

प्रश्न—गीतामें तो भगवान् कहते हैं—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (२।२२)

'जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्र ग्रहण करता है, वैसे ही जीव पुराने शरीरोंको छोड़कर दूसरे नये शरीरोंको प्राप्त होता है।'

इससे यह सिद्ध है कि जीवको मरते ही दूसरी देह मिल जाती है; फिर नरक-स्वर्गमें जानेकी बात कहाँ रही? शास्त्रमें कहा गया है कि जैसे जोंक अगला पैर टिकाकर ही पिछला उठाती है, वैसे ही जीव दूसरी देहमें जानेका उपक्रम करके ही पहलीको छोड़ता है। इसकी सङ्गति कैसे लगती है?

उत्तर—गीतामें भगवान्‌ने नये 'शरीर' की बात कही है, 'स्थूल शरीर' की नहीं। मरनेपर उसी क्षण जीवको 'आतिवाहिक देह' मिल जाती है, यह बात ऊपर कही जा चुकी है। इसलिये इसमें कोई विरोध नहीं रह जाता।

प्रश्न—श्राद्ध कब करना चाहिये ?

उत्तर—किसीके मरनेपर तीन क्रियाएँ की जानी चाहिये—पूर्व, मध्यम और उत्तर। दाहसे लेकर जितने कर्म हैं, उनको 'पूर्वकर्म' कहते हैं। प्रतिमास किये जानेवाले 'एकोद्दिष्ट' श्राद्धको 'मध्यम कर्म' और 'सपिण्डीकरण' के बाद मृतक व्यक्तिके पितृत्व प्राप्त हो जानेपर किये जानेवाले कर्मको 'उत्तर कर्म' कहते हैं। फिर, प्रतिदिन ही श्राद्धकी विधि है। प्रतिदिन न हो तो प्रत्येक अमावस्याको श्राद्ध करना चाहिये, उसमें भी न हो सके तो कन्यागत सूर्य होनेपर (कनागतोंमें) अर्थात् आश्विन कृष्णपक्षमें मरण-तिथिको, और मनुष्यकी वार्षिक मरण-तिथिको—ये दो श्राद्ध तो अवश्य करने चाहिये। श्रीमद्भागवतमें कर्क, मकर, तुला और मेषकी संक्रान्ति, व्यतिपात, दिनक्षय, चन्द्र-सूर्यग्रहण, द्वादशी, श्रवणादि तीन नक्षत्र, अक्षय-तृतीया (वैशाख शुक्ला ३), अक्षयनवमी (कार्तिक शुक्ला ९); मार्गशीर्ष पौष, माघ और फाल्गुनकी कृष्णाष्टमी, माघशुक्ला सप्तमी, माघकी मघा नक्षत्रसे युक्त पूर्णिमा और प्रत्येक मासकी पूर्णिमा आदि अवसरोंपर भी श्राद्ध करना बहुत लाभजनक बतलाया गया है। श्राद्धपर बहुत कुछ विवेचन किया जा सकता है परन्तु अभी उसके लिये आवकाश नहीं है। श्राद्धकी विशेष विधि मनु-पाराशर आदि स्मृतियोंमें तथा पुराणोंमें देखनी

चाहिये। गयाश्राद्ध भी अवश्य करना चाहिये। विष्णुपुराणमें पितरोंके ये वाक्य हैं जो 'पितृगीत' के नामसे प्रसिद्ध हैं। इस गीतसे पता लगता है कि पितरलोग अपने सन्तानसे पिण्ड-जल और नमस्कार आदि पानेके लिये कितने लालायित रहते हैं।

अपि धन्यः कुले जायादस्माकं मतिमान्नरः।
अकुर्वन्वित्तशाठ्यं यः पिण्डान्नो निर्वपिष्यति॥
रत्नं वस्त्रं महायानं सर्वभोगादिकं वसु।
विभवे सति विप्रेभ्यो योऽस्मानुद्दिश्य दास्यति॥
अन्नं न वा यथाशक्त्या कालेऽस्मिन्भक्तिनम्रधीः।
भोजयिष्यति विप्राग्र्यांस्तन्मात्रविभवो नरः॥
असमर्थोऽन्नदानस्य धान्यमामं स्वशक्तितः।
प्रदास्यतिद्विजाग्र्येभ्यःस्वल्पाल्पां वापि दक्षिणाम्॥
तत्राप्यसामर्थ्ययुतः कराग्राग्रस्थितांस्तिलान्।
प्रणम्य द्विजमुख्याय कस्मैचिद्भूप दास्यति॥
तिलैस्सप्ताष्टभिर्वापि समवेतं जलाञ्जलिम्।
भक्तिनम्रस्समुद्दिश्य भुव्यस्माकं प्रदास्यति॥
यतः कुतश्चित्सम्प्राप्य गोभ्यो वापि गवाह्निकम्।
अभावे प्रीणयन्नस्माञ्छ्रद्धायुक्तः प्रदास्यति॥
सर्वाभावे वनं गत्वा कक्षमूलप्रदर्शकः।
सूर्यादिलोकपालानामिदमुच्चैर्वदिष्यति॥

न मेऽस्ति वित्तं न धनं च नान्यच्छ्राद्धोपयोग्यं स्वपितॄन्नतोऽस्मि।
तृप्यन्तु भक्त्या पितरो मयैतौ कृतौ भुजौ वर्त्मनि मारुतस्य॥

(३। १४। २२-३०)

पितृगण कहते हैं—'हमारे कुलमें भी क्या कोई ऐसा बुद्धिमान्, धन्य पुरुष पैदा होगा जो धनके लोभको छोड़कर हमें पिण्डदान करेगा। जो प्रचुर सम्पत्तिका स्वामी होनेपर हमारे लिये ब्राह्मणोंको बढ़िया-बढ़िया रत्न, वस्त्र, सवारियाँ और सब प्रकारकी भोग-सामग्री देगा। बड़ी सम्पत्ति न होगी–केवल खाने-पहनने लायक ही होगी तो जो श्राद्धके समय भक्तिके साथ विनम्र बुद्धिसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको शक्तिभर भोजन ही करा देगा। भोजन करानेमें भी असमर्थ होनेपर जो श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको कच्चा धान और थोड़ी-सी दक्षिणा ही दे देगा। यदि इसमें भी असमर्थ होगा तो किन्हीं श्रेष्ठ ब्राह्मणको एक मुट्टी तिल ही देगा; अथवा हमारे उद्देश्यसे भक्ति-विनम्रचित्तसे सात-आठ तिलोंसे युक्त जलकी अञ्जलि ही दे देगा। इसका भी अभाव होगा तो कहींसे एक दिनका चारा ही लाकर प्रीति और श्रद्धाके साथ हमारे लिये गौको खिला देगा। इन सभी वस्तुओंका अभाव होनेपर जो वनमें जाकर दोनों हाथ ऊँचे उठाकर काँख दिखाता हुआ पुकारकर सूर्य आदि लोकपालोंसे यह कहेगा कि मेरे पास श्राद्धके योग्य न वित्त है, न धन है, न कोई अन्य सामग्री है, अतएव मैं अपने पितरोंको नमस्कार करता हूँ। वे मेरी भक्तिसे ही तृप्त हों। मैंने अपनी दोनों भुजाएं दीनतासे आकाशमें उठा रक्खी हैं।'

सारांश यह कि अपनी शक्तिके अनुसार पितरोंके उद्देश्यसे अन्न, फल, जल और फूल कुछ भी अर्पण जरूर करते रहना चाहिये। जिनको भगवान्ने प्रचुर धन दिया है, उनको तो श्रद्धा-

पूर्वक दिल खोलकर पितरोंकी तृप्तिके लिये विधिवत् श्राद्ध तथा दानादि करने चाहिये। जिनकी आय परिमित है, उन्हें भी अपने मरे हुए माता-पिताको परलोकमें सुख पहुँचानेके लिये कष्ट पाकर भी यथासाध्य श्राद्ध-तर्पणादि करने चाहिये। उन्हींका जीवन धन्य है। जो पुरुष अपने मरे हुए माता-पिता आदि प्रियजनोंको भूल जाते हैं और उनके उद्देश्यसे कुछ भी दान नहीं करते, वे तो सर्वथा धिक्कारके योग्य हैं।

प्रश्न—सुना जाता है धर्म-ग्रन्थोंमें श्राद्धके अवसरपर मांसका विधान है, इस सम्बन्धमें आपकी क्या सम्मति है।

उत्तर—मांसाहारी जातियोंके लिये मांसका विधान है। यह विधान मांसकी प्रवृत्तिको घटानेके लिये ही है। नहीं तो, श्राद्धके अवसरपर मांसका सर्वथा निषेध किया गया है। विधिकी अपेक्षा निषेध-वाक्य ही अधिक बलवान् माने जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें स्पष्ट कहा गया है—

न दद्यादामिषं श्राद्धे न चाद्याद्धर्मतत्त्ववित्।
मुन्यन्नैः स्यात्परा प्रीतिर्यथा न पशुहिंसया॥
नैतादृशः परो धर्मो नृणां सद्धर्ममिच्छताम्।
न्यासो दण्डस्य भूतेषु मनोवाक्कायजस्य यः॥
(७।१५।७-८)

'धर्मके तत्त्वको जाननेवाला पुरुष श्राद्धमें मांस अर्पण न करे। न स्वयं ही मांस खाय। क्योंकि पितरोंको ऋषि-मुनियोंके योग्य हविष्यान्नसे जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी पशुहिंसासे नहीं होती। जो लोग सद्धर्मके आचरणकी इच्छा रखते हैं उनके लिये इससे

बढ़कर कोई उत्तम धर्म नहीं है कि किसी भी प्राणोको मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकारका भी कष्ट न दिया जाय।' इससे मांस-का स्पष्ट निषेध है। अतः श्राद्धमें मांसका उपयोग भूलकर भी नहीं करना चाहिये।

प्रश्न—हिंदूशास्त्रोंके सिवा अन्य मतोंके ग्रन्थोंमें श्राद्धका उल्लेख नहीं है। वे लोग श्राद्ध करते भी नहीं, उनके पितरोंका क्या होता होगा ?

उत्तर—ऐसी बात नहीं है कि दूसरे धर्मवाले कुछ नहीं करते। ईसाईलोग फल-फूल चढ़ाते हैं, मृतकके लिये प्रार्थना करते हैं। इसी प्रकार मुसल्मान भी करते हैं। पारसी भी करते हैं। परन्तु मान भी लें कि वे लोग नहीं करते, तो इससे क्या हुआ। जो नहीं करते, उनके पितरोंको कष्ट ही होता है, मेरा तो यही विश्वास है। रही शास्त्रोंकी बात—सो यह तो अनुभवकी बात है। हमारे महर्षियोंने अपनी साधनासे प्राप्त की हुई दिव्यदृष्टिसे लोक-लोकान्तरोंका ज्ञान प्राप्त किया। तपोबलसे सर्वत्र विचरणकी शक्ति प्राप्त की और देख-सुनकर सब यथार्थ लिख दिया। अन्य धर्मवाले ऐसा नहीं कर सके, तो इसके लिये क्या किया जाय!

प्रश्न—श्राद्धके अतिरिक्त पितरोंके लिये और भी कुछ करना चाहिये ?

उत्तर—दान देना चाहिये, भगवान्‌से प्रार्थना करनी चाहिये और उनके उद्देश्यसे भगवन्नामका २४, ४८ घंटे या इससे अधिक कालतक अखण्ड कीर्तन करना चाहिये। घरमें ज्यादा आदमी न

हों, अखण्ड कीर्तनकी व्यवस्था न हो सके, तो प्रतिदिन नियमित समयतक अकेले ही नाम-कीर्तन करना चाहिये। इससे पितरोंको बड़ा सुख मिलता है। इसके अतिरिक्त एकादशी आदि व्रतोंका, भागवतसप्ताहका, भाँति-भाँतिके पुण्योंका और तीर्थवनादिकासेपुण्य भी उनके अर्पण किया जाता है। भगवान्‌की भक्ति करनेसे पितरोंको बहुत शान्ति मिलती है। अतः सबको भगवद्भक्त बनना चाहिये।

(२)

ब्रह्मज्ञान, पराभक्ति, भगवान्‌की लीला

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तर लिखनेमें बहुत देर हो गयी, इसके लिये क्षमा करें। व्यतिरेक और अन्वय—दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मज्ञानकी साधना होती है। आजकल अवश्य ही ऐसी प्रथा-सी हो गयी है कि लोग वेदान्तका अर्थ ही व्यतिरेक-साधना करते हैं। वे 'नेति-नेति' कहकर जगत्‌को स्वप्न, गन्धर्वनगर, शशशृङ्ग और रज्जुमें सर्प आदिकी भाँति सर्वथा असत् बतलाकर सबका अस्वीकार तो करते हैं, परन्तु सब कुछको एकमात्र नित्य सच्चिदानन्दघनस्वरूप मानकर ब्रह्मका स्वीकार नहीं करते। इसीलिये कभी-कभी जगत्‌का बाध करते-करते ब्रह्मका भी बाध हो जाता है और मनुष्यका चित्त एक जडशून्य भूमिकापर जा पहुँचता है। जगत् वस्तुतः न कभी था, न है, न होगा—यह सत्य है, परन्तु इसके साथ यह भी सर्वथा सत्य है कि जगत्‌के रूपमें जो कुछ भी भास रहा है, वह, तथा जिसको भासता है, वह भी ब्रह्म ही है। जगत्‌को सर्वथा वस्तुशून्य

समझना 'व्यतिरेक' साधना है और चेतनाचेतनात्मक समस्त विश्वमें एक चेतन अखण्ड परिपूर्ण ब्रह्मसत्ताका अनुभव करना 'अन्वय' साधना। दोनों साधनाओंके समन्वयसे जो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'नेह नानास्ति किञ्चन' तत्त्वकी प्रत्यक्षानुभूति होती है, वही ब्राह्मी स्थिति है।

यह श्रीभगवान्‌का सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप है। इसके जान लेनेपर ही समग्र पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेमलीला या व्रज-लीलाके समझनेका अधिकार प्राप्त होता है। दिव्य हृदय और दिव्य नेत्रोंके बिना व्रजलीलाके दर्शन नहीं हो सकते। विविध साधना-ओंके द्वारा हृदय जब समस्त संस्कारोंसे शून्य होकर शुद्ध सत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाता है और जब सम्पूर्ण विश्वमें एक अखण्ड अनन्त समरस सर्वव्यापक सर्वरूप अव्यक्त ब्रह्मकी साक्षात् अनुभूति होती है तभी प्रेमकी आँखें खुलती हैं, तभी भगवान्‌के लीलाके यथार्थ और पूर्ण दर्शनकी योग्यता प्राप्त होती है और तभी प्रेमी भक्तका भगवान्‌के साथ पूर्णैक्यमय मिलन होता है। यही ज्ञानकी परा निष्ठा है। 'निष्ठा ज्ञानस्य या परा।' (गीता १८।५०) श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्॥

(गीता १८।५४-५५)

'साधक जब प्रसन्न अन्तःकरण होकर ब्रह्ममें स्थित हो जाता,

है, जब उसे न तो किसी बातका शोक होता है और न किसी बातकी आकाङ्क्षा ही। समस्त प्राणियोंमें उसका समभाव हो जाता है, तब उसे मेरी पराभक्ति—पूर्ण प्रेम प्राप्त होता है। और उस पराभक्तिके द्वारा मुझ भगवान्‌के तत्त्वको—मैं जो कुछ और जितना कुछ हूँ—वह पूरा-पूरा जान लेता है और इस प्रकार तत्त्वसे जानकर वह तुरंत ही मुझमें मिल जाता है (मेरी लीलामें प्रवेश करता है)।'

यह ब्रह्मज्ञान और यह पराभक्ति—केवल ऊँची-ऊँची बातोंसे नहीं मिलती। निरी बातोंसे तो ब्रह्मज्ञानके नामपर मिथ्या अभिमान और भक्तिके नामपर विषय-विमोहकी प्राप्ति ही होती है। सत्सङ्ग, साधुसेवन, सद्विचार, वैराग्य, भजन, निष्काम कर्म, यम-नियमादिका पालन और तीव्रतम अभिलाषा होनेपर ही इनकी प्राप्ति सम्भव है। भगवत्कृपाकी तो शरीरमें प्राणोंकी भाँति सभी साधनाओंमें अनिवार्य आवश्यकता है।

---

(३)

कुछ तात्त्विक प्रश्नोत्तर

आपका कृपापत्र मिल गया था, पुनः दूसरा पत्र भी मिल गया, उत्तर लिखनेमें बहुत विलम्ब हो गया, इसके लिये क्षमा करें। आपने पत्रके आरम्भमें ही लिखा कि 'आपको तत्त्वदर्शी ज्ञानी होनेसे मैं साष्टाङ्ग दण्डवत्-प्रणामसहित नम्रतापूर्वक प्रश्न करता हूँ।' सो प्रश्न करनेमें तो कोई आपत्ति नहीं है, आप इच्छानुसार पूछ सकते हैं और अवकाश मिलनेपर मैं अपनी तुच्छ मतिके अनुसार

उत्तर भी दे सकता हूँ। परन्तु मैं कोई तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुष नहीं हूँ। इसलिये उस दृष्टिसे प्रणामके सर्वथा अयोग्य हूँ। सर्वभूतस्थित भगवान्‌के नाते आप प्रणाम करते हों तो उसी नाते मैं भी आपको करता हूँ।

शरणागतिका स्वरूप और उसके साधन

आपका पहला प्रश्न है—ईश्वरकी शरणमें जाना कैसे बनता है? इसका उत्तर है कि सब प्रकारसे अपने सर्वस्वको—तन, मन, धन, कामना, वासना, बुद्धि, अहंकार सबको—परमात्मामें अर्पण कर देनेसे शरणागति बनती है। इसके प्रारम्भिक साधन हैं–१–भगवान्‌के अनुकूल ही सब कार्य (तन, मन, वचनसे) करनेका दृढ़ निश्चय, २–भगवान्‌के प्रतिकूल समस्त कार्यों और भावोंका (तन, मन, वचनसे) सर्वथा त्याग, ३–भगवान्‌में ही परम विश्वासकी चेष्टा, ४–भगवान्‌को ही अपना एकमात्र रक्षक, प्रभु, प्रेमास्पद, गति, आश्रय, ध्येय और लक्ष्य मानना, ५–भगवान्‌के लिये ही सब कार्य करना, ६–सब कार्योंके होनेमें अपने पुरुषार्थको कुछ भी न मानकर भगवान्‌की ही शक्तिके द्वारा होते हुए समझना और ७–सब कुछ भगवान्‌के अर्पण करनेकी चेष्टा करना। इस प्रकार अभ्यास करते-करते चार भाव हृदयमें प्रकट होते हैं और उन्हींके अनुसार क्रिया होने लगती है। वे चार हैं—१–भगवान्‌का परम प्रेमके साथ निरन्तर चिन्तन और तज्जन्य परमानन्दका पल-पलमें अनुभव, २–भगवान्‌के अनुकूल ही सब कार्य करनेका स्वभाव, ३–भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें (सुख-दुःख, हानि-लाभ सबमें) परमानन्द और ४–सर्वथा निष्कामभाव यानी कामनाका बिल्कुल अभाव।

इसी अवस्थामें परम शान्ति–शाश्वती शान्ति मिलती है। यह परमोच्च दशा है, इस अवस्थामें उस आधारमें स्थित होकर भगवान् ही लीला करते हैं।

प्रारब्ध और शाश्वती शान्ति

प्रश्नका दूसरा भाग है—तीव्रतर वैराग्य आदिके द्वारा शाश्वती शान्ति मिल जानेपर भी अवश्य होनेवाले प्रारब्ध कर्मके मिटानेकी यदि कोई युक्ति होती तो राजा नल, धर्मावतार युधिष्ठिर और मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामचन्द्रजी इत्यादि समर्थ पुरुष राज्यसे भ्रष्ट होकर क्यों वन-वन फिरकर अनन्त दुःख उठाते। अतः शाश्वती शान्तिवाले ज्ञानीका भी प्रारब्ध कर्म नहीं मिट सकता—ऐसा श्रुति कहती है। तब शाश्वती शान्ति मिलना-न-मिलना एक-सा हो गया। अतएव तत्त्वज्ञानसे यथार्थ शान्ति मिलनेपर भी प्रारब्ध-कर्मद्वारा उस शान्तिमें विघ्न हो जाता है, या प्रारब्ध कर्मसे उसमें कोई विघ्न नहीं होता ? यदि नहीं होता तो फिर ऐसा पुरुष प्रारब्ध-कर्म कैसे भोगता है ?

इस प्रश्नके उत्तरमें सबसे पहले तो यह बात कहनी है कि—

> अवश्यम्भाविभावानां प्रतिकारो भवेद्यदि ।
> तदा दुःखे न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिराः ॥

यह श्लोक केवल धर्मकी प्रबलता दिखानेके लिये ही है। वैसे इस श्लोकका सिद्धान्त सर्वथा माननेयोग्य नहीं है; क्योंकि इसमें नल और युधिष्ठिरके साथ ही भगवान् श्रीरामका नाम लिया गया है। यह सिद्धान्त सर्वथा स्मरण रखना चाहिये कि भगवान्का अवतार किसी कर्मफलसे नहीं होता। हमलोगोंके देहधारणमें—

जन्ममें जैसे प्रारब्ध कारण है, वैसे भगवान्‌के जन्ममें नहीं है, वे तो अपनी लीलासे ही जन्म धारण करते हैं। वास्तवमें वह जन्म ही नहीं है। ऐसी बात नहीं है कि वह परम मङ्गल-विग्रह पहले नहीं था, अब माताके उदरमें रज-वीर्यके संयोगसे बन गया। वह तो नित्य है और समय-समयपर अपनी लीलासे ही प्रकट होता है। यह प्राकट्य ही उनका जन्म है। और फिर लीलाके अनन्तर अन्तर्धान हो जाना ही उनका देहावसान कहा जाता है। वस्तुतः वे जन्म-मृत्युसे रहित हैं। काल-कर्मसे अतीत हैं।

वे स्वयं कहते हैं—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥
(गीता ४। ६)

'मैं सर्वथा अविनाशीस्वरूप और सर्वथा अजन्मा तथा सब ब्रह्माण्डोंका परम ईश्वर होते हुए ही अपनी प्रकृतिके द्वारा अपनी योगमायासे—अपनी लीलासे—प्रकट होता हूँ।'

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥
(गीता ४। ९)

'अर्जुन ! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, और जो पुरुष इस जन्म-कर्मके तत्त्वको जान लेता है, वह देहत्यागके अनन्तर दूसरे जन्मको न प्राप्त होकर मुझको ही प्राप्त होता है।'

जिनके जन्म-कर्मके तत्त्वको जान लेनेसे ही अपुनर्भव (मोक्ष) मिल जाता है, उन भगवान्‌को प्रारब्ध-कर्मवश वनमें बाध्य होकर

कष्ट सहन करना पड़ा, यह कहना एक प्रकारसे भूल ही प्रकट करना है। भगवान् श्रीरामचन्द्रका युवराजपदपर प्रतिष्ठित न होकर वनमें जाना उनकी दिव्यलीला ही थी। किसी प्रारब्धका भोग नहीं। रहे नल और युधिष्ठिर, सो यदि ये महानुभाव तत्त्वज्ञानी पुरुष थे तब तो वनमें रहनेपर भी इन्हें वास्तवमें कोई अशान्ति नहीं हुई। और यदि तत्त्वज्ञानतक नहीं पहुँचे थे तो यथायोग्य अशान्ति होनेमें कोई आश्चर्य नहीं। इन दोनोंमें भी युधिष्ठिरका दर्जा नलसे ऊँचा प्रतीत होता है। कुछ भी हो, इस श्लोकको प्रमाण मानकर शाश्वती शान्तिमें विघ्न मानना सर्वथा अप्रासङ्गिक है। इतनी बात अवश्य सत्य है कि प्रारब्ध-कर्मका प्रतीकार नहीं हो सकता। सञ्चितका नाश हो जाता है। क्रियमाण भी अहंभावका अभाव तथा सहज निष्कामभाव होनेके कारण भूजे हुए बीजकी भाँति फल उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु प्रारब्धका नाश भोग हुए बिना नहीं हो सकता। किसी प्रबल नवीन कर्मके तत्काल सञ्चितसे प्रारब्ध बन जानेके कारण फलदानोन्मुख प्रारब्धका प्रवाह रुक सकता है, परन्तु मिट नहीं सकता, यह सत्य होनेपर भी तत्त्वज्ञानीकी शाश्वती शान्तिसे इसका क्या सरोकार है! कर्मोंका अस्तित्व ही अज्ञानमें है; अज्ञानका सर्वथा नाश हुए बिना तत्त्वज्ञानकी या शाश्वती शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती और शाश्वती शान्तिमें अज्ञान नहीं रहता। अतएव शाश्वती शान्तिको प्राप्त आनन्दमय पुरुषमें एक सम ब्रह्मकी अखण्ड सत्ताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता। ऐसी अवस्थामें शरीरमें होनेवाले भोगोंसे उसकी नित्यैकशान्तिमें कोई बाधा नहीं आती। वह सर्वदा, सर्वथा और सर्वत्र सम होता है। सुख-दुःख,

मानापमान, जीवन-मृत्यु, लाभ-हानि, प्रवृत्ति-निवृत्ति, हर्ष-शोक, शीत-उष्ण, किसी भी द्वन्द्वमें वह विषम नहीं देखता। वह एकमात्र ब्रह्मको ही जानता है, ब्रह्ममें ही रहता है और ब्रह्म ही बन जाता है। ऐसी अवस्थामें न तो जगत्की दृष्टिसे होनेवाला भारी-से-भारी दुःख उसे विचलित कर सकता है और न जगत्की दृष्टिसे प्रतीत होनेवाला परम सुख ही उसे सुखके विकारसे क्षुब्ध कर सकता है। वह सदा सम, अचल, कूटस्थ, स्वरूपस्थित रहता है। इसी बातको समझानेके लिये भगवान्ने जहाँ-जहाँपर गीतामें तत्त्वज्ञानी पुरुषोंके लक्षण बतलाये हैं, वहाँ-वहाँ समतापर बड़ा जोर दिया है। इसीको प्रधान लक्षण बतलाया है, देखिये गीता अध्याय २ श्लोक ५६, ५७; अध्याय ५। १८, १९; अध्याय ६। २९, ३०, ३१; अध्याय १२। १३, १७, १८, १९; अध्याय १४। २२, २४, २५ आदि-आदि। शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुषकी शान्ति वह होती है जो सर्वोच्च है, जो किसी कालमें किसी भी कारणसे घटती नहीं, नष्ट नहीं होती। वह नित्य है, सनातन है, अचल है, आनन्दमयी है, सत् है, सहज है, अकल है और अनिर्वचनीय है। बस, वह परमात्माका स्वरूप ही है। जो शान्ति किसी शारीरिक स्थितिके कारण विचलित होती है, बदलती है या नष्ट होती है, वह यथार्थमें शान्ति ही नहीं है, वह विषयप्राप्तिजनित क्षणिक सुखस्वप्नसे प्राप्त होनेवाली चित्तकी अचञ्चलता है, जो दूसरे ही क्षण नवीन कामनाके जाग्रत् होते ही नष्ट हो जाती है। भक्तकी दृष्टिसे कहा जाय तो भी यही बात है। भक्त सुख और दुःख दोनोंमें अपने भगवान्की मूर्ति देखता है, वह अपने भगवान्को

कभी बिना पहचाने नहीं रहता। 'वज्रादपि कठोर' और 'कुसुमसे भी कोमल' दोनोंमें ही वह अपने प्रियतमको निरख-निरखकर उसकी विचित्र लीलाओंको देख-देखकर नित्य निरतिशय आनन्दमें निमग्न रहता है, उसकी उस आनन्दमयी शान्तिको नष्ट करनेकी किसमें सामर्थ्य है ? भगवान् कहते हैं—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥

(गीता ६ । २२)

'उस परम लाभके प्राप्त हो जानेपर उससे अधिक अन्य कोई भी लाभ नहीं जँचता और उस अवस्थामें स्थित पुरुष बड़े भारी दुःखसे भी चलायमान नहीं होता।' क्योंकि वह सर्वत्र सर्वदा अपने हरिको ही देखता है। भगवान् कहते हैं—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥

(गीता ६ । ३०)

'जो मुझको सर्वत्र देखता है और सबको मुझमें देखता है, उससे मैं कभी अदृश्य नहीं होता और वह मुझसे कभी अदृश्य नहीं होता।' ऐसी अवस्थामें यही सिद्धान्त मानना चाहिये कि तत्त्वज्ञानी—शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुषके लिये कोई कर्म रहता ही नहीं'। प्रारब्धसे शरीर रहता है परन्तु उसमें अहंता और कर्त्ता-भोक्ता भाव-वाले किसी धर्मीका अभाव होनेसे क्रियामात्र होती है। वस्तुतः उसको कोई भोगता नहीं। उसके कर्मोंके सारे बन्धन टूट जाते हैं।

कर्मोंका समस्त बोझ उसके सिरसे उतर जाता है। प्रारब्धके शेष हो जानेपर शरीर भी छूट जाता है।

क्या ज्ञानी इन्द्रियोंके वशमें हो सकता है ?

अब एक प्रश्न आपका यह है कि गीता अध्याय २। ६० में जो यह कहा गया है कि प्रमथनकारिणी इन्द्रियाँ विपश्चित् पुरुषके मनको भीं बलात्कारसे हर लेती हैं, वह विपश्चित् पुरुष शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुष है या अन्य ? इसका उत्तर एक तरहसे ऊपर आ चुका है, थोड़े शब्दोंमें यह पुनः समझ लीजिये कि शाश्वती शान्तिको प्राप्त पुरुष ब्रह्ममें—भगवान्‌के स्वरूपमें नित्य एकत्वरूपसे अचल रहता है। वह चलायमान होता ही नहीं। यहाँ विपश्चित् शब्दसे बुद्धिमान् पुरुष समझना चाहिये। जो बहुत बड़ा बुद्धिमान् तो है परन्तु भगवत्प्राप्त नहीं है, उसकी बुद्धि यदि मनके अधीन हुई रहे तो उसके मनको इन्द्रियाँ जबरदस्ती खींच लेती हैं।

---

(४)

गीतोक्त सांख्ययोग एवं कर्मयोग

गीताके पाँचवें अध्यायके चौथे, पाँचवें श्लोकोंके सम्बन्धमें आपने लिखा कि इन श्लोकोंका जो भावार्थ है, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ, किन्तु शब्दोंसे नहीं। और गीता-जैसे ग्रन्थमें तो शब्द भी निरापत्ति ही होने चाहिये।' इसके उत्तरमें यही निवेदन है कि यदि मूलके शब्द ही आपत्तिजनक प्रतीत होते हैं, तब भावार्थका कोई मूल्य नहीं है। परन्तु गीतामें एक भी शब्द आपत्तिजनक नहीं है, ऐसा विद्वानों और गीताके मर्मज्ञोंका मत है।

गीताका प्रधान लक्ष्य है भगवान्‌की उपलब्धि। उसके मुख्य दो भाग हैं—ज्ञानयोग (सांख्य, संन्यास) और कर्मयोग। ज्ञानयोग सांख्ययोगियोंके लिये और कर्मयोग कर्मयोगियोंके लिये है (गीता ३। ३)। लक्ष्य दोनोंका एक ही है—भगवत्प्राप्ति। चौथे श्लोकमें भगवान् कहते हैं—'सांख्य' और 'योग' को बालक (अज्ञजन) पृथक्-पृथक् बतलाते हैं; पण्डित नहीं। [दोनोंमेंसे] एकमें भी सम्यक् प्रकारसे स्थित पुरुष दोनोंके फलको प्राप्त होता है।' पाँचवें में कहते हैं—'सांख्ययोगियोंद्वारा [सांख्यमार्गसे जो स्थान (फल) प्राप्त किया जाता है। कर्मयोगियोंद्वारा (कर्मयोगसे) भी वही प्राप्त किया जाता है। [अतएव] जो सांख्य और योगको एक देखता है, वही [यथार्थ] देखता है।' यह शब्दार्थ है। भावार्थ भी इसीके अनुकूल होना चाहिये। ध्यान देकर देखनेपर स्पष्ट प्रतीत होता है कि भगवान् दोनों निष्ठाओंको एक नहीं बतलाते, दोनोंको फलरूपमें एक बतलाते हैं। निष्ठाएँ तो पृथक्-पृथक् हैं ही। और फल एक होनेसे, समान फल देनेवाली—एक बतलाना उचित ही है।

रही सांख्ययोग और कर्मयोगके अर्थकी बात, सो इसमें कुछ मतभेद है। जहाँतक मेरी समझ है, न तो गीताके सांख्ययोगका अर्थ स्वरूपतः सर्वकर्मत्याग है और न कर्मयोगका अर्थ केवल लोक-कल्याणके लिये ही किये जानेवाले कर्म हैं। युद्ध-सरीखा कर्म भी कर्मयोगके अंदर आ सकता है।

सांख्ययोगका अर्थ है मन-वाणी-शरीरसे होनेवाले समस्त कर्मोंमें कर्तृत्वाभिमानका त्याग और शरीर तथा संसारमें अहंता-ममताका

त्याग। गुणोंके द्वारा गुणोंमें व्यवहारका ही नाम कर्म है और कर्मयोगका अर्थ है—फल और आसक्तिका त्याग करके भगवदर्पण-बुद्धिसे प्रत्येक कर्तव्य-कर्मका सम्पादन। यज्ञ, दान, तप, स्वाध्याय, देशसेवा, धर्मसेवा, समाजसेवा, कुटुम्बपालन, शरीर और परिवारका पोषण आदि सभी कर्म कर्मयोग हो सकते हैं—यदि वे फल और आसक्तिका त्याग करके केवल भगवदर्थ किये जायँ। इसी प्रकार ये सभी कर्म अकर्मस्वरूप (सर्वथा त्याग किये हुए) समझे जाते हैं, यदि कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषके द्वारा सम्पन्न हों। सांख्य अभेदका साधन है, कर्मयोग भेदका। दोनोंका लक्ष्य और फल एक ही है—'भगवान्‌की उपलब्धि।' कर्मयोगी तो कर्म करता ही है। सांख्ययोगीके लिये भी कर्मका निषेध नहीं है। (पाँचवें अध्यायका ८ वाँ, ९ वाँ श्लोक देखिये) 'इन्द्रियाँ ही अपने-अपने अर्थोंमें बरत रही हैं, मैं कुछ भी नहीं करता।' इस प्रकार कर्तृत्वाभिमानका त्यागी सांख्ययोगी देखना, सुनना, स्पर्श करना, सूँघना, खाना, आना-जाना, ग्रहण-त्याग करना आदि सभी कर्म कर सकता है। ऐसी स्थितिमें यह नहीं कहा जा सकता कि कर्मयोगीका आदर्श निःस्वार्थ है और सांख्ययोगीका स्वार्थमय। दोनोंका ही ध्येय एक है। भावभेदसे निष्ठाभेदमात्र है। कठिनाईकी ओर देखें तो गीताके मतसे कठिनाई सांख्ययोगीके मार्गमें अधिक है—'क्लेशोऽधिकतरस्तेषा-मव्यक्तासक्तचेतसाम्।' (गीता १२। ५) भगवान्‌ने स्पष्ट ही इस मार्गमें क्लेशोंकी अधिकता बतलायी है। आत्मोन्नतिका प्रयत्न दोनों करते हैं—अन्तःकरणकी शुद्धि ही आत्मोन्नति है। अन्तःकरण शुद्ध

होनेपर मानसिक और शारीरिक सभी क्रियाओंमें ऊँचापन, श्रेष्ठभाव और स्वाभाविक लोककल्याण आ जाता है। यह याद रखना चाहिये कि लोकका अकल्याण अशुद्ध अन्तःकरणवाले मनुष्योंद्वारा ही हुआ करता है। इस अन्तःकरणशुद्धिके बिना दोनोंमेंसे किसी भी मार्गमें आगे नहीं बढ़ा जा सकता। इसलिये इनमें छोटा-बड़ा कोई-सा नहीं है। हाँ, कठिनता और सुगमताके खयालसे छोटे-बड़ेका भेद है और इस अर्थमें भगवान्‌ने कर्मयोगको ज्ञान (सांख्य) योगसे श्रेष्ठ बतलाया भी है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

(गीता ५ । २)

यह बात भूलसे मानी जाती है कि लोक-कल्याणके लिये कर्म करनेवाला ही कर्मयोगी है। अवश्य ही व्यक्तिगत स्वार्थसे ऊँचे उठकर लोक-कल्याणार्थ कर्म करनेवाला श्रेष्ठ है, परन्तु यदि उसमें भोगमयी लोककल्याणकी कामना है, तो वह भी गीतोक्त कर्मयोगी नहीं है। आजकल तो यहाँतक माना जाता है कि जो किसी प्रकारसे भी आर्थिक भोगसम्बन्धी सुविधा कर सके, वही कर्मयोगी है। इधर भगवान् कहते हैं—'जय-पराजय, हानि-लाभ, सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध करो (२ । ३८); प्रिय और अप्रियकी प्राप्तिमें हर्षित और उद्विग्न न होनेवाला ही स्थिरबुद्धि है (५ । २०)। सब कर्मोंको अध्यात्मचित्तसे मुझमें समर्पण करके आशा, ममता और सन्तापसे रहित होकर युद्ध करो (३ । ३०)। जितने संस्पर्शज

भोग हैं, सभी दुःखयोनि हैं (दुःखोंको उपजानेवाले हैं) तथा अनित्य हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमता ही नहीं (५।२२)।' कहाँ तो यह आदर्श और कहाँ धन-मान आदिकी प्राप्तिके लिये—भगवान्‌को प्राप्त करनेकी कल्पना भी न करके दिन-रात आसक्तिपूर्ण कर्म करना! जो दुःखयोनि हैं, जिनमें बुद्धिमान् पुरुष भी प्रीति नहीं रखते, उन भोगोंमें आसक्ति तथा कामना भी रहे—चाहे वह समष्टिके लिये ही हो—और वह गीतोक्त कर्मयोगी—निष्काम कर्मयोगी भी कहलावे! यह तो कर्मयोगकी विडम्बनामात्र है। गीतोक्त कर्मयोगका स्वरूप है—

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥

(गीता २।४८)

'हे अर्जुन! आसक्तिको त्यागकर और सिद्धि-असिद्धिमें समबुद्धि होकर, योगमें स्थित होकर (भगवान्‌में चित्त जोड़कर) कर्तव्य कर्म कर। समत्व ही योग कहलाता है।'

गीतोक्त कर्मयोगी कर्तव्यप्राप्त धन, मान आदिके लिये भी कर्म करता है, परन्तु उसका लक्ष्य इस कर्मके द्वारा भगवत्प्राप्ति है। उसका ध्येय भगवान् हैं, भोग नहीं; इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

'निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः॥'

(गीता ३।३०)

इसी प्रकार गीतोक्त 'संन्यासी' भी केवल कर्मत्यागी हो, सो बात नहीं है। वह भी 'सर्वभूतहिते रतः' रहता है। लक्ष्य उसका भी भगवत्प्राप्ति है। थोड़ी देरके लिये यह मान लें कि गीतोक्त

संन्यासीका अर्थ कर्मोंका स्वरूपसे त्याग करके एकान्तमें साधन करनेवाला संन्यासी है, तो क्या उसको हम स्वार्थी कहेंगे ? सारा संसार भगवान्से भरा है, भगवान्में है, भगवान्से निकला है; फिर भगवान्को प्रसन्न करनेके लिये साधन करनेवाला क्या प्रकारान्तरसे जगत्-रूप भगवान्को सुखी करनेकी चेष्टा नहीं कर रहा है ? राग-द्वेषका त्याग करके एकान्तमें साधन करनेवाले महापुरुष जगत्को अपने शुभ विचारोंसे, मङ्गलमयी कल्याण-भावनासे, अपने अस्तित्वमात्रसे जो कल्याणदान करते हैं, वह तो अनुपम होता है। आज हमारे देखनेमें ऐसे संन्यासी प्रायः नहीं हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं कि यह चीज ही खराब है। गीतोक्त कर्मयोगी ही कितने देखनेमें आते हैं ? और जो ऐसे हैं, वे अपनेको ऐसा सिद्ध करने आपके-हमारे सामने क्यों आने लगे ? उन्हें हमारे द्वारा प्रमाण प्राप्त करनेकी क्या आवश्यकता है ? मेरा तो यह विनम्र निवेदन है कि वैसे एकान्तवासी महात्मा संन्यासी स्वाभाविक ही जगत्का अशेष कल्याण करते हैं। वे बड़ी ही ठोस चीज हमें देते हैं। अतएव यदि इस अर्थमें भी कर्मयोगीको और सांख्ययोगीको एक मानें तो कोई हर्ज नहीं है, यद्यपि गीताका यह भाव बिल्कुल ही नहीं मालूम होता।

पत्र बहुत लंबा हो गया। मेरी अन्तमें हाथ जोड़कर प्रार्थना है—मैं गीताका मर्मज्ञ नहीं हूँ। साधारण विद्यार्थीमात्र भी हूँ या नहीं, नहीं कह सकता। ऐसी स्थितिमें मैंने जो कुछ लिखा है, यह ठीक ही है—ऐसा मेरा दावा नहीं मानना चाहिये। आपके प्रश्नोंका उत्तर देनेके प्रसङ्गमें प्रसङ्गवश कुछ और भी लिख गया हूँ। इसके लिये आप-सरीखे सहृदय पुरुषसे क्षमाकी प्रार्थना और आशा करना अनुचित न होगा।

श्रीजगन्नाथजीके प्रसादकी महिमा

आपका कृपापत्र मिला। श्रीजगन्नाथपुरी (पुरुषोत्तमक्षेत्र) काशीकी भाँति ही बहुत ही प्राचीन तीर्थ है। पुराणोंमें इसका बड़े विस्तारसे वर्णन है। स्कन्दपुराणके विष्णुखण्डमें पुरुषोत्तम-माहात्म्यके ५१ अध्याय हैं। परिवर्तन तो सभी क्षेत्रोंमें हुए हैं। यहाँ भी हुए हैं। आपने श्रीजगन्नाथजीके प्रसादके सम्बन्धमें पूछा सो इस सम्बन्ध-में यह निवेदन है कि भगवान्के प्रसादमें साधारण अन्न-बुद्धि करना पाप माना गया है। प्रसाद प्रसाद ही है और बिना किसी संकोचके सबको उसका ग्रहण करना चाहिये। फिर, जगन्नाथजी-के प्रसादके सम्बन्धमें तो यहाँतक वचन मिलते हैं—

पाकसंस्कारकर्तॄणां सम्पर्कोऽत्र न दुष्यति।
पद्मायाः सन्निधानेन सर्वे ते शुचयः स्मृताः॥
वेश्यालयगतं तद्धि निर्माल्यं पतितादयः।
स्पृशन्त्यन्नं न दुष्टं तद्यथा विष्णुस्तथैव तत्॥
निन्दन्ति ये तदमृतं मूढाः पण्डितमानिनः।
स्वयं दण्डधरस्तेषु सहते नापराधिनः॥
येषामत्र न दण्डश्चेद्ध्रुवा तेषां हि दुर्गतिः।
कुम्भीपाके महाघोरे पच्यन्तेऽतिदारुणे॥
कुक्कुरस्य मुखाद्भ्रष्टं तदन्नं पतते यदि।
ब्राह्मणेनापि भोक्तव्यं सर्वपापापनोदनम्॥

(स्कन्दपुराण, विष्णुखण्ड)

'रसोई बनानेवालोंके सम्पर्कमें कोई दोष नहीं होता; क्योंकि

श्रीलक्ष्मीजीकी सन्निधिके कारण वे सभी पवित्र हो जाते हैं। महा प्रसाद यदि वेश्यालयमें हो अथवा पतितादिके द्वारा स्पर्श किया हुआ हो, तब भी दूषित नहीं होता। वह विष्णुकी तरह पवित्र ही रहता है। जो पण्डिताभिमानी मूढ़ लोग अमृतरूप प्रसादकी निन्दा करते हैं, भगवान् उनके अपराधको न सहकर स्वयं उन्हें दण्ड देते हैं। यहाँ कदाचित् उनको दण्ड भोगते हुए न भी देखा जाय परन्तु यह तो निश्चय ही है कि उनकी दुर्गति अवश्य होती है। मरनेके बाद वे महाघोर भयानक कुम्भीपाक नरकमें यातना भोगते हैं। सारे पापोंका नाश करनेवाला प्रसाद यदि कुत्तेके मुखसे गिरा हुआ हो, उसको भी ब्राह्मणतक खा सकते हैं।'

इसी प्रकार पद्मपुराणमें आया है—

चाण्डालेनापि संस्पृष्टं ग्राह्यं तत्रान्नमग्रजैः।

× × × ×

पवित्रं भुवि सर्वत्र यथा गङ्गाजलं द्विज।
तथा पवित्रं सर्वत्र तदन्नं पापनाशनम्॥

'पुरुषोत्तमक्षेत्रमें चाण्डालके द्वारा स्पर्श किया हुआ प्रसाद भी द्विजोंको ग्रहण करना चाहिये। द्विज! जैसे पृथ्वीमें गङ्गाजल सर्वत्र ही पवित्र है वैसे ही यह प्रसाद भी सर्वत्र पवित्र और पाप नाश करनेवाला है।'

प्रसिद्ध भक्त श्रीरघुनाथ गोस्वामी तो पुरुषोत्तमक्षेत्रमें नालेमें बहकर आता हुआ प्रसाद बटोरकर उसे खाया करते थे। वह प्रसाद इतना पवित्र माना जाता था कि स्वयं श्रीचैतन्य महाप्रभुने एक दिन उनके हाथसे छीनकर उसको खा लिया था।

असल बात तो यह है कि श्रीभगवान्‌का प्रसाद भक्तोंके लिये साधारण अन्न नहीं है। वह तो परम दुर्लभ, सर्वपापनाशक महाप्रसाद है। प्रसादका स्वाद, उसकी बाहरी पवित्रता, उसका मीठा या कड़ुवापन नहीं देखा जाता। उसमें देखनेकी बात केवल एक ही है कि वह भगवान्‌का प्रसाद है। जिसको हमारे प्रभुने मुँहमें रख लिया, वही हमारे लिये परम पवित्र, परम मधुर और परम अमृत है। अतएव भक्तोंको बिना किसी विचारके भक्ति-श्रद्धापूर्वक तथा सत्कारके साथ प्रसादको ग्रहण करना चाहिये।

इसका यह अर्थ नहीं कि साधारण खान-पानमें पवित्रताका खयाल छोड़ दिया जाय। वहाँ तो शास्त्रोक्त सभी प्रकारकी पवित्रताका खयाल पहले करना चाहिये। भगवत्प्रसाद साधारण अन्नकी श्रेणीसे परे है।

---

(६)

रुपयेको महत्त्व नहीं देना चाहिये

आपका कृपापत्र मिला। × × × अखण्ड कीर्तनका × × × प्रबन्ध हो गया, सो अच्छी बात है। भगवान् सब व्यवस्था करते हैं। मैं आजकल प्रायः अलग-सा रहता हूँ। रुपये-पैसेके सम्बन्धमें किसीसे कुछ कहनेका मन नहीं करता। रुपयेका सम्बन्ध बहुत ही खराब है। मन तो ऐसा करता है, जिन कामोंमें रुपयेका सम्बन्ध है, वे काम ही न किये जायँ। बस, भजन किया जाय। जगत्‌का भला होना होगा तो भजनसे ही हो जायगा। परन्तु अपने जगत्‌के

भलेका ठेका भी क्यों लें। जगत्‌का कल्याण तो श्रीभगवान्‌के किये होगा। रुपया आता है रुपयेवालोंसे, और विभिन्न कारणोंसे ऐसी परिस्थिति हो गयी है कि रुपयेवाले जिनको रुपया देते हैं, उन्हें अपनेसे हीन ही समझते हैं। भजनका महत्त्व घटकर रुपयेका प्रभुत्व बढ़ जाता है। मुझे तो अपने अनुभवसे यह कहना पड़ता है कि तकलीफ उठा लेना उत्तम, परन्तु रुपयेकी याचना करना बहुत नीचा काम है। बिना याचनाके भी रुपयोंको स्वीकार करना अच्छा नहीं है। विश्वास भगवान्‌में होना चाहिये, रुपयोंमें नहीं। आप किसीसे रुपया नहीं माँगते, आपकी यह बात मुझको बहुत ही अच्छी लगती है।

आपने जो यह आशीर्वाद दिया कि 'करहिं सदा रघुनायक छोहू' सो बड़ी ही कृपा है। बस, भगवान्‌की कृपाका ही भरोसा है। वे अकारण कृपालु हैं। उनकी और संतोंकी दया बनी रहे; और क्या चाहिये। यहाँ सब आनन्द है, दिन बहुत अच्छी तरह कट रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी बड़ी ही कृपा है।

---

(७)

रुपयेका मोह

……ने रुपये कमाये लिखा सो अच्छी बात है। भैया! यह ऐसी चीज है–जिसको मिलती है, वह भी दुखी होता है और न मिलती है, वह तो अपनेको दुखी मानता ही है। 'संसारके सब काम रुपयोंसे होते हैं।' ऐसा देखते हैं और यही विश्वास है;

यद्यपि सब काम नहीं होते। इसीसे रुपयेका मोह बहुत प्रबल होता है। कभी सफलता, कभी विफलता—यों जीवन बीतता चला जाता है। अन्तमें मनुष्य-जीवनकी सन्ध्याके समय तीन बातें हाथ लगती हैं—१-अमूल्य और एक खास महत्त्वपूर्ण कामके लिये मिले हुए जीवनकी व्यर्थता, २-परितापमयी अतृप्ति और ३-जीवनभर विषयासक्तिके कारण किये हुए पापोंका बोझ! परन्तु क्या कहा जाय। कुएँ भाँग पड़ी है! भगवत्कृपासे कहीं कुछ स्वाध्याय-सत्सङ्गका यदि अवसर मिलता रहता है तो कभी जीवनके असली ध्येयका जरा-सा खयाल हो आता है, नहीं तो, जीवन ऐसा बन जाता है कि बस चौबीसों घंटे उद्देश्यहीन उधेड़-बुनमें ही बीत जाते हैं। लक्ष्यका कभी खयाल ही नहीं होता। उसकी तो ऐसी विस्मृति होती है कि कभी याद दिलाये जानेपर भी स्मृति नहीं होती। और ज्यों-ज्यों ममताका विस्तार होता है, त्यों-ही-त्यों दुःखोंकी वृद्धि होती रहती है।

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥

जीव जितने ही प्रियताके सम्बन्ध स्थापित करते हैं, उतने ही उनके हृदयमें शोकके काँटे चुभते हैं, परन्तु मोहवश इसीमें सुखकी प्रतीति होती है। गोसाईंजी महाराज कहते हैं—

नहिं सतसंग भजन नहिं हरिको स्रवन न रामकथा अनुरागी।
सुत-बित-दार-भवन-ममता-निसि सोवत अति कबहुँ न जागी॥
तुलसिदास हरिनाम-सुधा तजि सठ हठि पियत बिषय बिष माँगी।
सूकर स्वान शृगाल सरिस जन जनमत जगत जननि दुख लागी॥

जो लोग लोकसेवा करना चाहते हैं, वे भी भगवान्‌को लक्ष्य नहीं बनाते; इसलिये उनकी भी वह सेवा वैसी ही होती है, जैसे जड़को छोड़कर डाली-पत्तोंमें जल सींचना होता है। उसमें भी बस, वही लौकिक दृष्टि ही रहती है—विषयाभिलाष ही रहता है और विषय हैं—दुःखयोनि, तब सुख कैसे हो?

भैया! प्रसन्न रहना। मैं कुछ कहने लायक तो नहीं, परन्तु कभी-कभी जीवनके लक्ष्यकी ओर खयाल करना भूलना नहीं। ढिढोरा पीटनेकी जरूरत नहीं है—जरूरत तो चुपचाप मार्गपर अग्रसर होनेकी है—ध्येयको न भुलाते हुए।

---

(८)

धनसे हानि और धनका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला, उत्तर लिखनेमें बहुत देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। धनकी सार्थकता उसे भगवान्‌की सेवामें लगानेमें है। लक्ष्मी भगवान्‌की सेविका हैं, उन्हें निरन्तर भगवान्‌की सेवामें ही नियुक्त करते रहना चाहिये। इससे लक्ष्मीकी प्रसन्नता प्राप्त होती है और उनका विस्तार होता है। लक्ष्मीपति नारायण तो प्रसन्न होते ही हैं। संसारमें जिसके पास जो कुछ भी है सब भगवान्‌का है। हमने जो उसपर अपना अधिकार मान लिया है यह तो हमारी बेईमानी है। हम सेवक हैं, हमारा काम है मालिककी सम्पत्तिकी रक्षा करना और उनके आज्ञानुसार, उनकी माँगके अनुसार उनकी सेवामें उसे समर्पित करते रहना। सारे जीव

भगवान्‌के स्वरूप हैं—उनमें जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, वहीं भगवान् उस वस्तुको चाह रहे हैं। जिसके पास वह वस्तु है, उसे चाहिये कि भगवान्‌की इस माँगको ठुकरावे नहीं, और बड़े आदरके साथ उसपर अपना कोई अधिकार न समझकर उसे यथायोग्य अभावग्रस्त प्राणियोंके अर्पण कर दे। अभावग्रस्त प्राणियोंको दयाका पात्र न समझे और न अपनेको दाता समझकर मनमें अभिमान या उनपर अहसान करे। उन्हें भगवान्‌का स्वरूप समझे और भगवान्‌के नाते उस वस्तुपर उनका सहज अधिकार समझे। यह समझे कि मैंने भगवान्‌की वस्तु भगवान्‌को ही दी है। जो वस्तुका स्वामी है, उसीको वह वस्तु दी जाय; इसमें हमारे लिये अभिमानकी कौन-सी बात है। इस प्रकार निरभिमान होकर धनके द्वारा भगवान्‌की सेवा करता रहे, इसीमें धनकी सार्थकता है और ऐसा करनेसे ही धनका उत्तम परिणाम होता है। नहीं तो, धन केवल कष्टदायक होता है और नाना प्रकारके पाप उत्पन्न करके नरकोंमें और दुःखपूर्ण योनियोंमें पहुंचा देता है।

श्रीमद्भागवतमें कहा है—

प्रायेणार्थाः कदर्याणां न सुखाय कदाचन।
इह चात्मोपतापाय मृतस्य नरकाय च॥
यशो यशस्विनां शुद्धं श्लाघ्या ये गुणिनां गुणाः।
लोभः स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्॥
अर्थस्य साधने सिद्धे उत्कर्षे रक्षणे व्यये।
नाशोपभोग आयासस्त्रासश्चिन्ता भ्रमो नृणाम्॥

स्तेयं हिंसानृतं दम्भः कामः क्रोधः स्मयो मदः ।
भेदो वैरमविश्वासः संस्पर्धा व्यसनानि च ॥
एते पञ्चदशानर्था ह्यर्थमूला मता नृणाम् ।
तस्मादनर्थमर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत् ॥
भिद्यन्ते भ्रातरो दाराः पितरः सुहृदस्तथा ।
एकास्निग्धाः काकिणिना सद्यः सर्वेऽरयः कृताः ॥
अर्थेनाल्पीयसा ह्येते संरब्धा दीप्तमन्यवः ।
त्यजन्त्याशु स्पृधो घ्नन्ति सहसोत्सृज्य सौहृदम् ॥

(११ । २३ । १५-२१)

'प्रायः देखा जाता है कि केवल इकट्ठा करनेवाले कृपणोंको धनसे कभी सुख नहीं मिलता । यहाँ तो रात-दिन धन कमाने और उसकी रक्षा करनेकी चिन्तासे जलते रहते हैं और मरनेपर—धनका सदुपयोग न करके उसे पापकर्मका कारणरूप बनानेके कारण घोर नरकोंमें गिरते हैं । जैसे थोड़ा-सा भी कोढ़ सर्वाङ्गसुन्दर शरीरके सौन्दर्यको बिगाड़ देता है, वैसे ही धनका तनिक-सा लोभ भी यशस्वियोंके निर्मल यशमें और गुणवानोंके सद्गुणोंमें कलङ्क लगा देता है । धन कमानेमें, कमाकर उसे बढ़ानेमें, रक्षा करनेमें, खर्च करनेमें, भोगनेमें और नाश हो जानेमें दिन-रात परिश्रम, भय, चिन्ता और भ्रममें डूबे रहना पड़ता है । १ चोरी, २ हिंसा, ३ झूठ बोलना, ४ दम्भ—दिखाऊ श्रेष्ठता, ५ काम, ६ क्रोध, ७ गर्व, ८ मद-अहंकार, ९ भेदबुद्धि, १० वैर, ११ अत्यन्त प्यारोंमें भी अविश्वास, १२ स्पर्धा, १३ लम्पटता, १४ जूआ और १५ शराब—ये पन्द्रह अनर्थ मनुष्योंमें धनसे ही पैदा होते हैं । इसलिये अपना कल्याण

चाहनेवाले पुरुषको ऐसे अर्थनामधारी अनर्थ करनेवाले अर्थको दूरसे ही प्रणाम कर लेना (त्याग देना) चाहिये । स्नेह-बन्धनमें बँधकर सदा एक रहनेवाले सगे भाई-बन्धु, स्त्री-पुत्र, माता-पिता और सगे-सम्बन्धियों आदिमें भी धनकी कौड़ियोंके कारण इतनी फूट पड़ जाती है कि वे एक दूसरेके बैरी बन जाते हैं । थोड़े-से धनके लिये वे क्षुब्ध हो जाते हैं, उनके क्रोधकी आग भड़क उठती है । वे आपसमें लड़ने लगते हैं और पुराने प्रेम-बन्धनको तोड़कर सहसा एक दूसरेका गला काटनेको तैयार हो जाते हैं ।'

इसपर टीका-टिप्पणी व्यर्थ है । धनासक्ति, धनकामना, धन-प्राप्ति और धनसंग्रहका यह परिणाम जगत्में आज प्रत्यक्ष हो रहा है ! यह सत्य है—धन आवश्यक है, धनकी सार्थकता भी है और धन कमाना भी चाहिये, परन्तु कमाना चाहिये उसे भगवान्की सेवाके लिये, भगवान्के नियमोंकी रक्षा करते हुए, भगवान्के अनुकूल उपायोंसे ही; और धनके प्राप्त होनेपर उसका भगवान्के आज्ञानुसार सदुपयोग करना चाहिये । अपने धनपर जो गरीबोंका अधिकार समझता है और उनके हितार्थ उसका यथायोग्य उपयोग करता है, वही सच्चा धनी है । शेष धन-संग्रह करनेवाले लोग तो धनके रूपमें पापका संग्रह करते हैं और सदा दरिद्र ही रहते हैं । धनका वही उपयोग उत्तम है, जो परिणाममें शान्ति, प्रसन्नता और सुख उत्पन्न करनेवाला हो । जो किसीको कुछ देकर पछताता है, वह या तो धनका दुरुपयोग करता है, अथवा धनासक्तिमें फँसा हुआ प्राणी है, जो धनके नामपर पाप कमाता रहता है !

मेरी स्पष्ट बातोंसे आपको दुःख नहीं होगा, ऐसी आशा है ।

और यह भी आशा है कि आप अबसे अपनेको धनका स्वामी नहीं, परन्तु ईमानदार तथा सावधान ट्रस्टी समझेंगे और नियमानुसार उसका सदुपयोग करनेकी चेष्टा करेंगे !

(९)

पापका प्रकट होना हितकर है

आपका पत्र मिला था। आपकी स्थिति अवश्य ही दयनीय है। इस स्थितिमें आपको दुःख होना कोई बड़ी बात नहीं। परन्तु यह मनुष्यहृदयकी दुर्बलता है। पापके प्रकट हो जानेको असलमें पापका निकल जाना समझना चाहिये और इधर-उधरकी झूठ-कपट-भरी चेष्टा करके उसे छिपानेका प्रयत्न कभी नहीं करना चाहिये। यह बात सदा याद रखनी चाहिये कि छिपा पाप बढ़ता रहता है। जिसको पाप छिपानेमें सफलता मिल जाती है, उसका दिल दूने उत्साहसे पाप करनेकी प्रेरणा करता है। ऐसा मनुष्य अन्तमें पापमय बन जाता है। आपको पाप छिपानेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये और पापके प्रकट होनेसे आपका जो अपमान-तिरस्कार हो रहा है, इसे भगवान्‌की कृपा समझनी चाहिये। इसमें आपका पाप नष्ट हो रहा है और आप विशुद्ध हो रहे हैं। असलमें पापका फल सामने आनेपर मनुष्यकी जैसी दशा होती है, इस दशाकी, यदि पाप करते समय मनुष्य कल्पना कर सके तो उससे सहजमें पाप नहीं होते। परन्तु उस समय तो विषयासक्तिवश वह अन्धा हुआ रहता है।

आप घबड़ाइये नहीं। भगवान् दयामय हैं, उनका द्वार पापी-तापी सबके लिये सदा खुला है। फिर आपके पाप तो पश्चात्तापकी

आगसे जल रहे हैं। भविष्यमें ऐसा कर्म न बने, इसके लिये प्रतिज्ञा करते हैं, यह भी बड़ा शुभ लक्षण है। इसे भी भगवत्कृपा ही समझिये। भगवान्‌से शक्ति माँगिये, उनसे प्रार्थना कीजिये और उनके बलपर दृढ़ प्रतिज्ञा कर लीजिये। आपका निश्चय दृढ़ होगा तो पापकी शक्ति नहीं है कि वह आपका स्पर्श कर सके। मनुष्यसे जो बुरे कर्म होते हैं, वे आत्माके मूक आदेशसे ही होते हैं। आप पापोंका होना और रहना सह लेते हैं, इसीसे पाप बनते हैं। जिस क्षण आप इन्हें सहन नहीं करेंगे और कामरागवर्जित भगवत्स्वरूप जो परम बल आपको प्राप्त है, उससे अपनेको बलवान् मानकर मन-इन्द्रियोंको ललकार देंगे, उसी क्षण वे पाप-तापको अपने अन्दरसे निकाल देंगे, और भगवान्‌के बलके सामने नये पाप-तापोंको तो आनेका मार्ग ही नहीं मिलेगा।

आप भगवान्‌का पावन स्मरण कीजिये और अपमान-तिरस्कार-को पापोंका नाश करनेवाली भगवान्‌की भेजी हुई आग समझकर साहसके साथ प्रसन्नतापूर्वक अपने सारे पापोंकी—पापवासनाओं-की उसमें आहुति दे डालिये। आप पवित्र हो जायँगे।

(१०)

मनुष्यका कर्तव्य

आपका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य कैसा है? शारीरिक स्वास्थ्यकी अपेक्षा मनुष्यके मानसिक स्वास्थ्यकी अधिक आवश्यकता है। सात्त्विक खुराक तथा राम-नामकी ओषधि मिलती रहनेसे मन

स्वस्थ रह सकता है। सच्ची स्वस्थता तो 'स्व' में स्थित होनेसे है। जगत्‌की ऊँची-नीची घटनाएँ आप निरन्तर देख रहे हैं। आँखोंके सामने परिवर्तनका चक्र निरन्तर घूम रहा है। यहाँ कुछ भी स्थिर, नित्य नहीं है। अस्थिर और अनित्यमें सुख कहाँ? फिर अनित्यके पीछे जीवन लगा देना बुद्धिमानी नहीं कही जा सकती। अतएव सावधानीके साथ जीवनका प्रत्येक पल नित्य परमात्माकी खोजमें बिताना चाहिये। और उस नित्यको प्राप्त कर आनन्दरूप हो जाना चाहिये। यही मनुष्यका एकमात्र परम कर्तव्य है। इसके बिना सब कुछ व्यर्थ है।
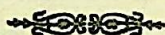
(११)

मनुष्य-जीवनकी सफलता

भैया! आपकी अवस्था अवश्य ही दुःखद है। विषयासक्तिका यही परिणाम होता है। मनुष्य ऐसा फँस जाता है कि फिर न तो उसका उसमें रहते ही बनता है और न वह निकल ही सकता है।

महाकवि कालिदासने कहा है—

गन्धश्चासौ भुवनविदितः केतकी स्वर्णवर्णा
पद्मभ्रान्त्या चपलमधुपः पुष्पमध्ये पपात।
अन्धीभूतः कुसुमरजसा कण्टकैश्चूर्णपक्षः
स्थातुं गन्तुं द्वयमपि सखे नैव शक्तो द्विरेफः॥

'मधुलोभी चञ्चल भ्रमर भ्रमसे कमल समझकर जगत्प्रसिद्ध सुगन्धवाले स्वर्णवर्ण केतकी-पुष्पमें जा पड़ता है, वहाँ केतकीके परागसे उसकी आँखें फूट जाती हैं और काँटोंसे उसकी पाँखें टूट

जाती हैं। इससे न तो वह उसमें रह ही सकता है और न कहीं उड़कर जा ही सकता है। सखे! इस प्रकार भ्रमर उभय संकटमें पड़ जाता है।'

यही दशा विषयोंमें सुख समझकर उनमें फँस जानेवालोंकी होती है। मनुष्य-देह मिली थी—रहा-सहा सारा बन्धन काटनेके लिये। परन्तु यहाँ आकर वह अपने बन्धनोंकी गाँठोंको और भी बढ़ा लेता तथा उलझा लेता है। बहुत जन्मोंके बाद यह दुर्लभ मनुष्य-शरीर भगवत्कृपासे मिलता है।

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥

यह शरीर भी अनित्य है। इस शरीरको पाकर जो विषय-भोगोंमें न फँसकर भगवान्‌के भजनमें अपना तन-मन लगा देता है, वही भवसागरसे तरकर मनुष्य-जीवनको सफल बनाता है। इस शरीरके कालके गालमें पड़नेसे पहले-पहले ही बड़ी फुर्तीसे यत्न करके भगवान्‌के प्रेमको प्राप्त कर लेना चाहिये। इसीमें बुद्धिमानी है। विषयभोग तो दूसरी योनियोंमें भी प्राप्त होते हैं—मनुष्य-योनि तो केवल भगवत्प्राप्तिके लिये ही है। कितने दुःखकी बात है कि ऐसे शरीरको पाकर भी हमलोग स्वप्नके पदार्थोंकी तरह असत्, बिजलीकी चमककी भाँति चञ्चल और अनित्य भोगोंकी प्राप्तिमें जीवन खो देते हैं, न मालूम कितना अधर्म करते हैं। कितनोंको सताते और ठगते हैं, कितनोंका दिल दुखाते हैं, कैसे-कैसे छलछंद रचते हैं, यह हमारी कैसी दुर्दशा है! भागवतमें श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(११।२०।१७)

'यह मनुष्य-शरीर सारे मङ्गलोंका मूल है, शुभ कर्म करनेवाले पुण्यजनोंको यह सुलभतासे मिलता है, और अशुभ कर्म करनेवाले दुर्जनोंके लिये यह अत्यन्त दुर्लभ है। संसार-सागरसे पार जानेके लिये यह सुदृढ़ नौका है। परमार्थ-तत्त्वके ज्ञाता गुरुदेव विश्वास करते ही इसके केवट बन जाते हैं और शरण लेते ही मैं स्वयं अनुकूल वायु बनकर इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ा ले जाता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरके द्वारा भवसागरसे पार नहीं उतर जाता, वह तो अपने हाथों अपनी हत्या करता है।'

तुम्हारी ही भाँति बहुत लोग फँसावटका अनुभव करते हैं परन्तु सच बात तो यह है कि यह विचार तभीतक रहता है, जबतक कोई खास अड़चन रहती है जहाँ अड़चन हटी कि फिर वही प्रपञ्चका मोह !

तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

ज्यों जुबती अनुभवति प्रसव अति दारुन दुख उपजै।
है अनुकूल बिसारि सूल सठ पुनि खल पतिहि भजै॥

यही दशा है। भैया ! यदि सचमुच तुम दुखी हो और दुःखसे निकलना चाहते हो तो इसका उपाय है—सीधा उपाय है। वह है भगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनकी शरण होना

और जहाँतक बन सके निरन्तर उन्हें स्मरण रखनेकी चेष्टा करना। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ।
(१८।५८)

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
(८।१४)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९।२२)

'मुझमें चित्त लगानेसे तुम मेरी कृपासे सारे संकटोंको अनायास ही पार कर जाओगे। अर्जुन! जो पुरुष अनन्यचित्त होकर नित्य-निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य मुझमें लगे हुए योगीको बहुत ही सहजमें मैं प्राप्त हो जाता हूँ। जो केवल मुझमें ही प्रेम करनेवाले पुरुष निरन्तर मेरा चिन्तन करते हुए मुझे ही भजते हैं, उन नित्य मुझमें लगे हुए पुरुषोंको, जो लौकिक-पारमार्थिक वस्तु प्राप्त नहीं है, उसकी प्राप्ति मैं स्वयं करवा देता हूँ और जो प्राप्त है, उसकी रक्षा मैं स्वयं करता हूँ।'

• भगवान्‌की इस वाणीपर विश्वास करके उनपर निर्भर रहना सीखो और निर्भरचित्तसे उनका स्मरण करो। फिर देखोगे कुछ ही समयमें तुम्हारी स्थिति पलट जायगी। तुम्हारा रूपान्तर हो जायगा। और तुम मानव-जीवनकी सफलताकी ओर द्रुतगति दौड़ने लगोगे।

असली सद्गुण

भैया ! नाटकमें पार्ट करनेकी तरह किये जानेवाले दिखावटी सत्य, अहिंसा, अक्रोध, क्षमा, ब्रह्मचर्य, दया आदिसे कुछ भी नहीं होता। उसी प्रकार नाटकीय ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और प्रेम भी निरर्थक ही हैं। जैसे नाटकका राजा वस्तुतः राजा नहीं है, वैसे ही नाटकका ज्ञानी, तपस्वी और सदाचारी भी वस्तुतः वैसा नहीं है। मुझको अच्छा बोलना—लोगोंको समझाना आ गया। बड़ी-बड़ी ऊँची बातोंका उपदेश भी मैं करने लगा। परन्तु यदि मैंने स्वयं उनका मर्म नहीं समझा और मेरे जीवनमें उन ऊँची बातोंने प्रवेश न किया तो मुझे क्या लाभ हुआ ? धनके झूठे आडम्बरसे कोई धनी थोड़े ही हो गया ? अतएव जीवनमें सात्त्विक गुणोंका और भक्ति, वैराग्य, ज्ञानका सच्चा विकास होना चाहिये। बड़ी लगनसे ऐसी चेष्टा करनी चाहिये। यह होता है—दूसरोंके दोष न देखकर उनके गुण देखनेसे, अपने अवगुण देखनेसे, और जी-जानसे अपने अवगुणोंको नष्ट करके सद्गुणोंके प्रकाशके लिये अथक प्रयत्न करनेसे। लोग दूसरोंके दोष देखते हैं, अपने नहीं देखते—फल यह होता है कि अपने अंदर दोष आ-आकर भरते चले जाते हैं। सारे सद्गुण हमारे व्यवहारमें उतर आने चाहिये। बहुत बार आदमी भूलसे व्यावहारिक सत्तामें दोषोंका रहना अनिवार्य मानकर, युक्तिपूर्वक दोषोंका समर्थन करने लगता है, यह मनका बड़ा धोखा है। दोषका समर्थन किसी भी रूपमें नहीं करना चाहिये और अपने एक-एक

दोषको दुःसह समझकर उसका त्याग करना चाहिये। सद्गुण और सद्व्यवहार केवल कथनमात्र न होकर क्रियात्मक होने चाहिये। और प्रत्येक प्रतिकूल अवसरपर सावधानीके साथ डटे रहना चाहिये; जिससे सद्गुण और सद्व्यवहारका अभाव न हो जाय। धर्मकी परीक्षा काम पड़नेपर ही होती है। एकान्तमें सच्ची भक्ति हो, वही भक्ति है। सत्य और अहिंसा—जीवनमें उतरे रहें वही सच्चे सत्य और अहिंसा-व्रत हैं।

(१३)

गम्भीरता या प्रसन्नता

पत्र मिला, धन्यवाद! निवेदन यह है कि एक ऐसी भी आध्यात्मिक स्थिति होती है और वह अच्छी होती है, जिसमें अन्तरमें उदासी न होनेपर भी चेहरेपर उदासी-सी मालूम होती है। यह वैराग्यकी एक अवस्था है। परन्तु चेहरेकी उदासी और गम्भीरता ही आध्यात्मिक उन्नति या स्थितिकी पहचान नहीं है। गम्भीरता होनी चाहिये भीतर, इतनी कि जो किसी भी प्रकारसे किसी भी बाह्य परिस्थितिमें चित्तको क्षुब्ध न होने दे। बाहर तो सदा प्रसन्नता और हँसी ही होनी चाहिये। समुद्रका अन्तस्तल कितना गम्भीर होता है, उसमें कभी बाढ़ आती ही नहीं, परन्तु उसके वक्षःस्थल-पर असंख्य तरङ्गें नित्य-निरन्तर नाचती रहती हैं—अठखेलियाँ करती रहती हैं। इसी प्रकार हृदय विशुद्ध, विकाररहित, स्थिर, गम्भीर और भगवत्संयोगयुक्त होना चाहिये, और बाहर उनकी विविध लीलाओंको देख-देखकर पल-पलमें परमानन्दमयी हँसीकी लहरें

लहराती रहनी चाहिये। मुर्दे-सा मुझाया हुआ मुँह किस कामका जिसे देखते ही देखनेवालोंका भी हृदय हँस उठे, मुखकमल खि उठे, मुखमुद्रा तो ऐसी प्रसन्न ही होनी चाहिये।

इसका यह अर्थ भी नहीं कि विनोदके नामपर मर्यादारहि अनर्गल, असत्य प्रलाप किया जाय। उसका तो त्याग ही इष्ट है

(१४)

निजदोष देखनेवाले भाग्यवान् हैं

संसारमें ऐसा कौन है जो सर्वथा निर्दोष हो। त्रिगुणम संसारमें तम भी रहेगा ही। जिसको अपने दोष दीखते हैं— भयङ्कररूपमें दीखते हैं, जो दोषोंके कारण दुखी रहता है, जिसके हृदयमें दोष चुभते हैं, चाहता है एक भी न रहे, प्रयत्न भी करता है, परन्तु सर्वथा नाश नहीं कर सकता, वह तो बड़ा भाग्यवान् है। संसारमें ऐसे लोग भी हैं जो अपने दोषोंको या तो देखते ही नहीं और देखते हैं तो 'गुण' रूपमें, तथा दूसरोंके दोष उनको राई-से भी पहाड़-जैसे लगते हैं।

'आप पापको नगर बसावत सहि न सकत पर खेरो।'

श्रीभगवान्‌का स्मरण आप करते ही हैं; उनका स्मरण ऐसी आग है जो सारे दोषोंको जला देती है। और क्या उपाय है अपने पास।

भगवान्‌की दया

आप इतना संकोच क्यों करते हैं। आप सच मानिये, मुझे न तो आपका मेरे पास रहना कभी भार मालूम होता है, न आप जाते हैं तब रोकनेका ही मन होता है।

स्वप्नमें या जाग्रत्में श्रीभगवान् प्रेरणाद्वारा आकर्षण करते हैं सो बहुत ही अच्छी बात है। विघ्न भी भगवान्की दयासे ही आते हैं। बीच-बीचमें विघ्न न आवे तो शायद अधिक शिथिलता आ जाय। जैसे रात्रि दूसरे दिनके ताजा प्रभातका सुख देनेके लिये आती है, वैसे ही विघ्न भी साधनमें उत्साह पैदा करनेके लिये ही आते हैं। श्रीभगवान् तो सब कुछ देखते ही हैं। देखते क्या हैं—उन्हींके इङ्गितसे सब कुछ होता है; फिर अमङ्गलकी क्या सम्भावना है? मङ्गलमयका इङ्गित मङ्गलमय ही होगा। अभी कुछ वियुक्त रहनेकी इच्छा है तो रहिये। मनसे तो शायद आप वियुक्त हो सकेंगे नहीं। शरीर तो वियोग-संयोगरूप है ही। जो प्रभु-इच्छा है उसीमें सन्तुष्ट रहना चाहिये। 'गोविन्द नाम आधार' सबको ही है। कोई मानते हैं; कोई नहीं।

'उस छबिमें लगन लगा लीजे, गोविन्द नाम आधार रहे।

---

(१९)

कुछ प्रश्नोत्तर

आपके प्रश्नोंका संक्षेपमें निम्नलिखित उत्तर है। याद आनेके लिये प्रश्नोंको भी संक्षेपमें लिख रहा हूँ।

प्र०—मनमें नाना प्रकारकी तरङ्गें उठती रहें और राम-नामका जप किया जाय तो उसका फल होगा या नहीं?

उ०—यह कर्मका नियम है कि कोई भी कर्म फल उत्पन्न किये बिना नहीं रहता। फिर, राम-नाम तो किसी भी भाँति लिया

जाय, लाभदायक ही है। इसलिये फल अवश्य होगा। मनकी एकाग्रताके साथ नाम-जप हो, तब तो कहना ही क्या है।

प्र०—साढ़े तीन करोड़ राम-मन्त्रके जपसे मोक्षकी प्राप्ति होती है, यह क्या ठीक है?

उ०-विश्वास, भाव तथा महत्त्वके पूर्ण ज्ञानका उदय होनेपर तो एक ही नामसे मोक्ष प्राप्त हो सकता है। इसके अतिरिक्त कलिसन्तरणोपनिषद्में 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥' इस सोलह नामके मन्त्रके साढ़े तीन करोड़ जपसे (मृत्युके अनन्तर) मुक्ति हो जानेकी बात लिखी है। इसमें कोई विधि नहीं है। बस, इतना मन्त्रजप हो जाना चाहिये। साढ़े तीन करोड़ मन्त्रोंके छप्पन करोड़ नाम होते हैं।

प्र०-क्या पापी मनुष्यकी भी काशीमें मरनेसे मुक्ति हो जाती है?

उ०-काशीमें मरण होनेसे पुनर्जन्म न होनेकी बात शास्त्र-सिद्ध और महात्माओंके द्वारा अनुभूत है। अतः इसपर विश्वास करना चाहिये। अन्तकालमें जिस प्रकारकी स्थिति पुनर्जन्म न होनेके लिये आवश्यक है, श्रीशिवजी महाराज कृपापूर्वक काशीमें मरनेवालेकी वह स्थिति तारक-मन्त्रके दानसे स्वयं कर देते हैं। पाप बहुत अधिक होनेकी स्थितिमें एक नियमित अवधितक वह जीव सूक्ष्मशरीरसे भैरवी यातनाका भोग करके अन्तमें मुक्त हो जाता है। पुनर्जन्म किसीका नहीं होता। जिसके पाप बहुत कम होते हैं, वह तत्काल मुक्त हो जाता है। मैं तो इसपर विश्वास

करता हूँ। अविश्वासका कोई कारण भी नहीं है। भगवान् श्रीशङ्करके प्रभावसे काशीका यह स्थानमाहात्म्य है।

प्र०—जीवनमें निरन्तर भजन करनेवाला अन्तमें मति खराब हो जानेसे नीचे गिर जाता है और उसका भजन व्यर्थ चला जाता है, तथा हमेशा पाप करनेवाला अन्त समयमें शुद्धबुद्धि होनेके कारण मोक्षको प्राप्त हो जाता है—इसमें क्या रहस्य है ?

उ०—यह सत्य है कि अन्तिम श्वासमें जैसी मति होती है, उसीके अनुसार गति होती है; परन्तु अन्तिम क्षणमें होनेवाली मति अपने-आप अचानक ही नहीं हो जाती, उसके लिये कारण होना चाहिये। वह कारण है—जीवनभर किये हुए अच्छे-बुरे अपने कर्म। जिसने जीवनभर भजन किया है, उसकी मति अन्तमें भजनमें होगी; और जिसने पाप किया है, उसकी पापमें होगी। अधिकांशमें ऐसा ही होता है। कहीं-कहीं इसके विपरीत भी होता है; भगवत्कृपासे, अकस्मात् किसी महात्मा पुरुषके दर्शन और अनुग्रहसे, भगवन्नाम और गुणोंके स्मरणसे या किसी वरदान आदिसे पाप करनेवालेकी बुद्धि शुद्ध हो सकती है। परन्तु उसमें भी पूर्वकृत कर्म ही कारण होता है। 'पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता' के सिद्धान्तके अनुसार संत-दर्शनमें पूर्वपुण्य ही कारण होते हैं; भगवन्नाम-गुणोंका स्मरण भी पूर्वाभ्याससे ही होगा और वरदान भी किसी कर्मका फल होगा। इसी प्रकार अन्तिम समयमें फलदानोन्मुख अशुभ प्रारब्धके कारण कुसङ्गतिके प्रभावसे, विषाद, क्रोध और शोकादिसे या शापादिसे 'मति' बिगड़ जाती है; परन्तु इनमें भी कर्म ही कारण है।

अतएव वर्तमानमें सदा शुभ कर्म करने चाहिये और वे भी भगवान्‌का चिन्तन करते हुए। फिर मति बिगड़नेका कोई डर नहीं है। भगवान् कहते हैं—

> तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
> मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥
>
> (गीता ८ । ७)

[अन्तकालमें जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है और अन्तकालमें प्रायः वैसी ही मति होती है, जैसे कर्म मनसे जीवनभर किये जाते हैं।] इसलिये अर्जुन! तुम सब समय निरन्तर मेरा स्मरण करो और युद्ध भी करो। इस प्रकार मन-बुद्धि मुझमें अर्पण हो जानेसे अन्तमें तुम निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होओगे। मृत्यु जब भी आवेगी; तभी तुम उसे मेरा स्मरण करते हुए मिलोगे। मतलब यह कि हर समय भगवान्‌के स्मरणका अभ्यास करना चाहिये। फिर अन्तकालमें भगवत्कृपासे मति शुद्ध ही रहेगी।

प्र०—गीताजीमें भगवान्‌ने कहा है, सब कुछ मुझसे ही होता है और सब जगह मैं ही हूँ। फिर मनुष्य दोषका भागी क्यों होता है? अच्छा-बुरा कर्म तो भगवान्‌पर ही निर्भर ठहरा।

उ०—यह सत्य है कि जैसे बिजलीका करेंट पॉवर-हाउससे आता है वैसे ही कर्म करनेकी शक्ति, प्रेरणा, कर्मसम्पादन-कार्य आदि सब भगवान्‌की शक्तिसे ही होते हैं और भगवान् भी सब जगह सदा व्याप्त ही हैं। परन्तु मनुष्यको भगवान्‌ने कर्मका अधिकार देकर कर्म करनेके नियम बता दिये हैं। जैसे Arms Act (शस्त्र-कानून) के अनुसार सरकार किसीको बन्दूक, राइफल, पिस्तौल

आदिके लाइसेंस देती है और स्वाभाविक ही कानूनके अनुसार उसके उपयोग करनेकी अनुमति भी देती है, वैसे ही मनुष्ययोनिको भगवान्‌ने कर्म करनेका लाइसेंस दे दिया है और उसके लिये नियम भी बना दिये हैं। लाइसेंसके अनुसार बंदूक आदिका नियमानुकूल व्यवहार करनेवाले पुरुषकी भाँति जो मनुष्य भगवान्‌के नियमानुसार कर्म करता है, वह पुरस्कारका पात्र होता है। नियमानुसार होनेवाले कर्मोंका नाम ही 'शुभ कर्म' है, शुभ कर्मका फल सुख होता है; और जो नियमविरुद्ध (अशुभ) कर्म करता है, वह दोषका भागी होता है और उसे दण्ड मिलता है। पापका फल दुःख है ही और भगवान् चाहे तब उसको पशु, पक्षी आदि भोगयोनियोंमें गिराकर उसका कर्म करनेका लाइसेंस छीन लेते हैं! इसलिये सब कुछ भगवान्‌के द्वारा होनेपर भी मनुष्यको कर्म करनेका अधिकार प्राप्त होनेके कारण, वह यदि अधिकारका दुरुपयोग करके पाप-कर्म करता है तो दोषका भागी अवश्य होता है। भगवान् सर्वत्र व्याप्त हैं, इसीसे वे अच्छे-बुरे कर्मोंको देख सकते हैं। यहाँकी सरकारको तो कोई धोखा भी दे सकता है, अपने कानूनविरोधी कार्यको छिपा भी सकता है। सर्वव्यापी भगवान्‌के सामने कोई कर्म छिप नहीं सकता। इसके सिवा जैसे आकाश सर्वत्र व्याप्त है और वह जैसे अच्छे-बुरे किसीसे भी लिप्त नहीं होता, वैसे ही भगवान् भी सर्वत्र व्याप्त हैं और सर्वथा सबसे निर्लिप्त हैं।

प्र०—मनुष्यके मनमें जो पाप-पुण्यकी स्फुरणाएँ होती हैं, उनसे पाप-पुण्य होता है या नहीं ?

उ०—यह तो कहा ही जा चुका है कि कोई भी कर्म निष्फल नहीं होता। परन्तु कलियुगमें भगवान्‌ने जीवोंपर दया करके ऐसा विधान कर दिया है कि यदि मनमें पापवासना उठकर नष्ट हो जाय-उसकी क्रिया बिल्कुल न हो—तो उस पापसे माफी मिल जायगी। और पुण्यभावना—शुभ स्फुरणा होगी तो उसका फल पुण्य अवश्य प्राप्त होगा। इसलिये अशुभ स्फुरणाओंको रोककर सदा शुभ भावनाएँ करनी चाहिये। अशुभ भावना होनेपर उससे आगे होनेवाली क्रियासे बच रहना भी बहुत कठिन है। इसलिये भी शुभ भावना ही करनी चाहिये।

प्र०—एक मनुष्य परोपकारमें रत है। एक दिन वह अपने घरसे निकला ही था कि सामने एक मकानमें आग लग जानेसे उसे एक स्त्री जलती हुई दिखायी दी। वह उसे बचानेके लिये दौड़ा। रास्तेमें एक दो सालका बच्चा उसके पैरके नीचे दबकर मर गया और जबतक वह वहाँ पहुँचा, तबतक वह स्त्री जल गयी। उस मनुष्यको पाप होगा या पुण्य ?

उ०—पाप-पुण्यका क्या हिसाब है, यह तो नियन्ता श्रीभगवान् ही जानें। परन्तु अनुमान और युक्तिसे यही पता लगता है कि भावके अनुसार ही कर्मका फल हुआ करता है। यदि कोई मनुष्य निष्काम सेवा-बुद्धिसे परोपकार करता है, तब तो उसका अनिष्ट फल हो नहीं सकता। कहीं भूल हो जाती है तो वह क्षम्य होती है। क्योंकि वह अपनी सेवाका कोई भी मूल्य अथवा बदला ग्रहण नहीं करता। सकामभावपूर्वक परोपकारबुद्धिसे सेवा करनेपर ऐसा कहा

जा सकता है कि वह स्त्रीको बचानेके लिये दौड़ा, यह उसका पुण्यकर्म है। स्त्री न बच सकी, यह दूसरी बात है। कर्मका बाह्यतः अनुकूल ही फल हो, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। उसका कर्तव्य तो वहीं पूरा हो जाता है, जहाँ वह अपनी समझसे पूरी कोशिश कर लेता है। फल तो उसके हाथमें है ही नहीं। परन्तु दौड़नेमें उसने अगर असावधानी की और उसकी गलतीसे बच्चा मर गया तो उसका उसे पाप भी होगा। यदि उसकी असावधानी नहीं है और बच्चा ही खेलता या दौड़ता हुआ उसकी फेटमें आ गया तो वह दोषी नहीं है। आप देखते ही हैं, मोटरके नीचे कोई राही आ गया। यदि मोटर-ड्राइवरकी असावधानीसे ऐसा हुआ तो वह दोषी है, नहीं तो नहीं। यही अनुमान उसमें भी लगाया जा सकता है।

प्र०—एक साधु जंगलमें भगवद्भजन कर रहा था। उसे संयोगवश एक-दो दिनसे भोजन मिल जाता था। किसी गृहस्थने उसके लिये नियमित भोजनका प्रबन्ध कर दिया। इससे उसकी इन्द्रियाँ चेतन हो गयीं। भोजनसे आलस्य आने लगा और ध्यान छूट गया। अब उस भोजन देनेवालेको पाप होगा या पुण्य?

उ०—पाप-पुण्यकी जाँच-पड़ताल और पूरा निर्णय भगवान् ही कर सकते हैं। अनुमानसे यहाँ भी वही बात है। निष्काम सेवा-भावसे भोजनकी व्यवस्था हुई तो कोई भी दोष नहीं है। सकाम-भावसे होनेपर भी मनमें यदि कोई बुरी भावना नहीं है तो भोजनकी व्यवस्था करनेवालेको पाप नहीं हो सकता। भूखेको अन्न देना

सर्वथा पुण्य है। हां, भोजन होना चाहिये पात्रके अनुसार। साधु-महात्माओंको उनके आश्रमधर्म तथा साधनाके अनुकूल ही भोजन देना चाहिये। ऐसी चीजें नहीं देनी चाहिये, जिनसे आलस्य, प्रमाद आदि तामसी वृत्तियाँ बढ़ें। हाँ, कोई साधु स्वयं चाहें और अपने पास वह वस्तु हो एवं निर्दोष हो तो साधुको देनी ही चाहिये; उससे यदि कोई हानि होगी तो उसके जिम्मेवार वे साधु होंगे, देनेवाले गृहस्थ नहीं। परन्तु यह भी याद रखना चाहिये कि अपने पास देनेको है और भजन करनेवाले साधुओंको अन्नकी आवश्यकता है, वहाँ यदि हम इस युक्तिको काममें लावें कि भोजनकी व्यवस्था कर देंगे तो आलस्य-प्रमाद होगा, साधुजीकी समाधि टूट जायगी, इसलिये इनको भोजन नहीं देना चाहिये, तो यह भी पाप है। शरीरकी स्थितिसे ही भजन होगा। शरीररक्षाके लिये अन्नकी आवश्यकता है। त्यागी पुरुष स्वयं कमाते नहीं। उनका भार तो गृहस्थोंपर ही धर्मतः है। गृहस्थ यदि किसी युक्तिवादसे उनको देना बंद कर दें तो वे धर्मच्युत होते हैं। हाँ, साधुकी साधुता बिगाड़नेकी नीयतसे उसके सामने भोगोंका ढेर लगा देना तो पाप ही है।

प्र०—गीतापाठ, तीर्थयात्रा आदि पुण्यकर्म वेचे जा सकते हैं या नहीं ?

उ०—बेचे जा सकते हैं क्या, लोग बेचते ही हैं। गीतापाठ तथा तीर्थयात्रा करके बदलेमें धन, मान, पूजा, प्रतिष्ठा चाहना और इसी निमित्तसे मिलें तो उन्हें ग्रहण करना बेचना नहीं तो और

क्या है ? हाँ, सौदा करके दाम ठहराकर बेचना दूसरी बात है। वैसी बिक्री भी हो सकती है और वह जायज ही होती है।

प्र०-ब्राह्मणके द्वारा दक्षिणा आदि देकर कराये हुए जप, अनुष्ठान आदिका फल करवानेवालेको होता है या नहीं ?

उ०-उचित दक्षिणा, सत्कार आदिके द्वारा ब्राह्मणको प्रसन्न करनेपर और ब्राह्मणके द्वारा जपके नियमानुसार शुद्ध और नियमपूर्वक साङ्गोपाङ्ग जप होनेपर करानेवालेको शुभ फल अवश्य होता है। सकाम भावसे किये जानेवाले कार्यमें विधिकी बड़ी आवश्यकता है। दक्षिणाकी कमी, करानेवालेके द्वारा ब्राह्मणका अपमान और जपमें असावधानी, नियमोंका त्याग, अशुद्ध उच्चारण आदि होनेपर उग्र देवता हों तो कुफल भी हो सकता है।

(१६)

सेवा-धर्म और आनन्दका स्वरूप

सेवा-धर्म

आपका कृपापत्र मिला था। मैं स्वभावसे ही पत्रादि लिखनेमें प्रमाद कर जाता हूँ, इधर बाढ़पीड़ितोंकी सेवाका कुछ काम भी रहा। इसीसे पत्र नहीं लिख पाया। 'सेवा' शब्द ठीक है या नहीं, निश्चय नहीं होता। बहुत बार मनुष्य दूसरेकी सेवा करने जाकर उसकी सेवा तो नहीं करता, वरं उसीको अपनी सेवामें लगा लेता है। सेवा तो वही है, जिसमें बदला पानेकी भावना न हो, जिसकी

सेवा की गयी उसका इसलिये कृतज्ञ हुआ जाय कि उसने हमारी सेवा स्वीकार की, भगवान्‌की दया मानी जाय कि उन्होंने सेवाके कार्यमें हमको नियुक्त किया। वस्तुतः जिसकी हमने सेवा की उसकी सेवा तो होती ही; क्योंकि मनुष्यको जो कुछ भी भला-बुरा फल प्राप्त होता है, उसका कारण किसी-न-किसी रूपमें पहलेसे तैयार रहता है। कार्यके पहले कारण होना ही चाहिये। भगवान्‌ने किसीकी भलाईमें हमें निमित्त बनाया, यह उनकी कृपा है। यथार्थमें जिन वस्तुओंसे हमने किसीकी सेवा की वे वस्तुएँ भी तो भगवान्‌की ही थीं, जिनकी सेवा की वे भी तो भगवान्‌के स्वरूप हैं और जिस प्रेरणासे सेवा हुई उस प्रेरणाके देनेवाले, और सेवा करनेवाले हमारे इस स्वरूपको अनुप्राणित करनेवाले, तथा आत्मरूप देकर इसे प्रकट करनेवाले भी तो भगवान् ही हैं। फिर हम किसीकी सेवा करनेका अलग अभिमान करनेवाले कौन ? जो कुछ हुआ, सब श्रीभगवान्‌की लीला हुई। भगवान्‌ने ही कृपा करके हमें शुद्ध प्रेरणा करके और सेवाके योग्य वस्तुएँ प्रदान करके सेवामें निमित्त बनाया। सेवा बातोंसे नहीं होती। सेवा तो मनकी चीज है। सेवाकी दूकान न खोलकर जो चुपचाप सच्चे मनसे सेवा करना है वही वास्तविक सेवा है। सेवामें कृतज्ञता है, अहसान नहीं है; आत्मतृप्ति है, अभिमान नहीं है; आनन्द है, विषाद नहीं है; त्याग है, ग्रहण नहीं है; और प्रेम है, दिखावट नहीं है। जहाँ केवल सेवाका विज्ञापन है, सेवा करानेवालेपर अहसान है, अपने मनमें अभिमान है, बदलेमें कुछ पानेकी इच्छा या आकांक्षा है, वहाँ शुद्ध सेवा नहीं है।

याद रखिये, अन्तर्यामी भगवान् हमारे हृदयको देखते हैं, शब्दोंकी छटाको नहीं। इसलिये मनुष्यको बहुत बोलनेवाला न बनकर चुपचाप काम करनेवाला बनना चाहिये। वाणी और आचरण दोनोंमें सत्य होना चाहिये। जहाँ बातें अधिक होती हैं, वहाँ सत्य छिप जाता है। सत्यका प्रकाश निरन्तर रहना चाहिये। तभी सच्ची सेवा बन सकती है। हमलोगोंकी बाढ़-पीड़ितोंकी 'सेवा'में यह सत्य है या हमारे व्यक्तित्वका विज्ञापन, इस बातका निर्णय भगवान् ही कर सकते हैं। अस्तु !

आनन्दका स्वरूप

आपने सदा आनन्दमें रहनेका उपाय पूछा सो बड़ी अच्छी बात है। आनन्दमें रहनेका उपाय जाननेसे पहले आनन्दका कुछ स्वरूप जान लेना आवश्यक है। आनन्द भगवान्‌का स्वरूप है। किसी कामनाकी पूर्ति होनेपर क्षणभरके लिये जो आनन्द प्राप्त होता है, वह आनन्द नहीं है, वह तो आनन्दाभास है, क्योंकि वह विषयजन्य है। वह चित्तका एक विकारमात्र है जो विषयके साथ इन्द्रियका संयोग होनेपर प्राप्त होता है, वह आनन्द नहीं है, उसे सुख कह सकते हैं। आनन्द सुख-दुःखसे अतीत है। आनन्द स्वतन्त्र है, उसका प्रकाशक कोई निमित्त नहीं है; वह आनन्द शुद्ध है, निरञ्जन है, नित्य है, सत् है और स्वप्रकाश है; चेतन है, अखण्ड है, एकरस है, सम है, सर्वत्र है, सनातन है, अशब्द-अस्पर्श-अरूप और अव्यय है, बोधस्वरूप है, एक है; उस आनन्दमें न सजातीय-विजातीय भेद है, न स्वगत भेद है, न किसी प्रकारका अङ्गाङ्गिभाव या भोक्ता-भोग्यभाव है। वह

केवल आनन्द है। 'एकमेवाद्वितीयम्' है। उसमें न अशान्ति है, और न विक्षेप है; वह नित्य शान्त, समाहित और स्निग्ध है। वह असीम है और अपार है; उसमें उदय और अस्त नहीं है—उत्पत्ति और विनाश नहीं है—वह सान्त नहीं है, अनन्त है! वह आनन्द निर्बाध है। उसमें तू-मैं और तेरे-मेरेका भेद नहीं है। उसमें आदि-मध्य-अन्त, सृष्टि-स्थिति-संहार, भूत-भविष्यत्-वर्तमान, दृश्य-द्रष्टा-दर्शन नहीं है। वही 'तू' है, वही 'मैं' है, वही सब कुछ है; साथ ही वह 'तू' भी नहीं है, 'मैं' भी नहीं है, वह कुछ भी नहीं है। है केवल आनन्द, परम आनन्द, अपार आनन्द, अमर आनन्द, महान् आनन्द, शान्त आनन्द, सत् आनन्द, चित् आनन्द आनन्द-ही-आनन्द, आनन्द-ही-आनन्द!

उस आनन्दमें अस्ति-नास्तिका भेद नहीं है, दोनों ही उसमें हैं, दोनों ही उससे हैं, वही दोनों है, और वह दोनोंसे ही परे है। प्रकाश-अन्धकार, ज्ञान-अज्ञान, विद्या-अविद्या, अगुण-सगुण, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि परस्परविरुद्ध सभी धर्मोंका वही आधार है! उसीमें और उसीसे इन सबका अस्तित्व व्यक्त होता है। ऐसा होनेपर भी उसकी महिमामें, उसकी निरञ्जनतामें कोई बाधा नहीं पहुँचती; वह सदा ही एकरस है। जिन परस्परविरुद्ध धर्मोंका व्यक्त होना कहा जाता है, वे भी वस्तुतः हैं नहीं; यह तो उसकी लीला है। है केवल वही और वही आनन्द ही। वह आनन्द आप ही अपनेसे पूर्ण है, उसी नित्य सनातन आनन्दसे ही बाह्य सभी आनन्दोंका प्रकाश है। वही सबका हेतु है, सभी उसीसे जन्य

हैं। परन्तु वह स्वयं नित्य अहेतुक है और अजन्य है। वह भूमा है, अल्प नहीं है। वह आनन्द ही आपका अपना स्वरूप है, उसी आनन्दसे आपका अस्तित्व है; आप उसी आनन्दसे आये हैं, उसी आनन्दमें हैं, और उसी आनन्दमें प्रविष्ट होंगे। आप उस आनन्दसे कभी पृथक् हो ही नहीं सकते, क्योंकि वही आपका अपना स्वरूप है। फिर उसका वर्णन भी कौन करे और कैसे करे ? आप आनन्दकी खोजमें हैं, आनन्द चाहते हैं, और आनन्दप्राप्तिका उपाय पूछते हैं, यह ठीक ही है ! सभी जीव ऐसा ही चाहते हैं—भोगसे हो या त्यागसे, रागसे हो या वैराग्यसे, सृजनसे हो या संहारसे, कैसे भी हो प्राप्त होना चाहिये आनन्द। जीवकी यही सहज आकांक्षा है। जीव अनादि कालसे इसी खोजमें लगा है; परन्तु वह बाहर जितना ही खोजता है उतना ही उसे निराश होना पड़ता है, आनन्दके बदले विषाद ही मिलता है। क्योंकि आनन्द बाहर है नहीं, आनन्दका अटूट खजाना तो अंदर है। बस, एक बार हिम्मत करके पर्दा हटा देना चाहिये, फिर आनन्द-ही-आनन्द है। पर्दा हटते ही अंदरका वह अनन्त आनन्द समस्त जगत्में फैल जायगा। फिर दुःख-दैन्यका नाश हो जायगा। शोक-विषाद मर जायँगे। फिर दीखेगी सर्वत्र आनन्दकी छटा, सर्वत्र हँसी-खुशी, सर्वत्र सुख-शान्ति। सर्वत्र—अखिल विश्व आनन्दकी अनूप सुषमासे सुशोभित हो उठेगा ! सब ओर आनन्दमयका आनन्द-ही-आनन्द दिखायी देगा। फिर जगत्में दिखायी देगा सभी सुन्दर, सभी मधुर, सभी स्निग्ध, सभी ज्योत्स्नामय; इस अनन्त असीम आनन्दकी अजस्र धारामें समस्त विश्व बह जायगा।

भगवान्‌का बतलाया हुआ यह 'दुःखालय' और 'अशाश्वत' जगत् इस सच्चिदानन्दमयी आनन्दधारामें बहकर नित्य आनन्दमय हो जायगा।

इस आनन्दकी प्राप्तिका उपाय है—निरन्तर आनन्दका विचार, आनन्दका ध्यान। 'नित्य आनन्द' पर जो अज्ञानका पर्दा पड़ा है ज्ञानरूपी तलवारसे उसे काट डालना चाहिये। यह आनन्द कहींसे आवेगा नहीं। यह तो है ही। आनन्दकी नित्य सन्निधिमें रहने पर भी, आनन्दकी ही सन्तान होकर भी, जीव इस आनन्दसे वञ्चित है। यही तो मोह है। परन्तु आनन्दसे निकला हुआ, आनन्दकी खोजमें लगा हुआ जीव तबतक तृप्त नहीं हो सकता जबतक कि वह जीवत्वके पर्देको फाड़कर अपने स्वरूप आनन्दमय ब्रह्मत्वको प्राप्त न कर ले। वह तो प्राप्त ही है; प्राप्तिमें जो अप्राप्तिका भ्रम है,—सत्सङ्ग, वैराग्य, विचार, ध्यान और अटूट श्रद्धाके द्वारा उस भ्रमको मिटा देना है। फिर आनन्द-ही-आनन्द है! क्योंकि वही असलमें है।

---
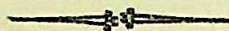
(१७)

शान्ति भगवान्‌के आश्रयसे ही मिल सकती है

संसारकी बात तो ऐसी ही है। आप सच मानिये—भगवान्‌से रहित जगत्‌में गढ़े-ही-गढ़े, खाई-ही-खाई हैं। इसमें कहीं ऊँची जगह है ही नहीं, जहाँ मनुष्य सुखसे रह सके। एक गढ़ेमें पड़ा हुआ मनुष्य उससे दुखी होकर दूसरे गढ़ेकी चाह करता है और

कदाचित् उससे निकलकर दूसरेमें गिर जाता है एवं फिर उन्हीं दुःखोंका सामना करता है। इसमें तो परमात्माका आश्रय, भगवद्भाव-का निश्चय, सर्वत्र एकमात्र भगवत्-सत्ताका अनुभव और भगवान्‌-की लीलाका दर्शन करनेपर ही शान्ति मिलती है। फिर तो प्रत्येक गढ़ा एक सुन्दर सुरम्य आनन्दस्थलीके रूपमें परिणत हो जाता है। दुःख, सङ्कट, विपत्ति, असफलता—सभी सुख, शान्ति, सम्पत्ति और सफलताके रूपमें पलट जाते हैं,। लोकदृष्टिमें बुरी-से-बुरी स्थिति भी फिर दुःखदायिनी नहीं होती। संहार और सृजन दोनों ही उनकी लीलाके दो अङ्ग दीखते हैं। फिर लौकिक मान-अपमान, स्तुति-निन्दा, अनुकूलता-प्रतिकूलता, जीवन-मरण, लाभ-हानि, उत्थान-पतन—सभीमें लीलानन्दका अनुभव होता है। ऐसा हुए बिना—केवल जगत्‌को पकड़े रहकर मनुष्य यदि शान्ति, सुख और सफलता चाहता है तो वे उसके लिये आकाशकुसुमके समान सदा असम्भव ही रहते हैं। दुःखालयमें सुख कैसा? अनित्यमें नित्य कहाँसे आवे? याद रखना चाहिये—जो मनुष्य केवल विषयोंमें सुख खोजता है, उसके जीवनका अन्त तीन बातोंमें होता है—अतृप्ति, असफलता और पापसंग्रह। इसलिये भगवान्‌को ही जीवनका लक्ष्य बनाकर भगवान्‌के लिये ही जगत्‌के यथायोग्य सब काम करने चाहिये। समस्त जीवन उनकी पूजाका उपकरण बन जाय। जीवनका प्रत्येक पल उनके प्रार्थना-ग्रन्थका एक-एक पृष्ठ बन जाय। तभी सुख-शान्ति और सच्ची स्थायी सफलताके दर्शन होंगे। मैंने खूब परीक्षा करके देखा है—भगवान्‌से रहित जगत्‌में बड़े-से-बड़े सुखों और भोगोंको प्राप्त सफल-जीवन समझे जानेवाले पुरुष भी

महान् दुखी और सर्वथा असफल ही हैं। उनका हृदय सदैव अतृप्ति की आगसे जलता रहता है। भोगोंसे तृप्ति कभी होती ही नहीं इसके सिवा और भी नाना प्रकारके ऐसे दुःख, जिनकी दूसरे कल्पना भी नहीं कर सकते, उनके जीवन-संगी बने रहते हैं, जो सदा उन्हें सताया करते हैं! यह सत्य है।

—:०:—

(१८)

भगवान्‌का ऐश्वर्य और भगवत्कृपा

सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। 'श्रीभगवान्‌में आपका प्रेम, श्रद्धा बहुत शीघ्र बढ़ जाय, आपके सारे दोष तुरंत मिट जायँ तथा निरन्तर भगवान्‌का भजन-चिन्तन होने लगे। आपकी यह इच्छा तो बहुत ही सुन्दर, सराहनीय और अनुकरणीय है। परन्तु, मेरा पत्र पढ़ते ही ऐसा हो जाय, मैं ऐसी बात लिखूँ—आपका यह भाव सुन्दर होनेपर भी मुझे अपनेमें ऐसी बात नहीं दिखलायी देती कि मेरे लिखनेमात्रसे ऐसा हो जायगा।

कामिनी, काञ्चन और भोगोंकी आसक्ति—इनमें वैराग्य होनेसे या भगवान्‌के ऐश्वर्य, माधुर्य और सुहृद्‌पनमें विश्वास होनेसे मिट सकती है। भोगोंमें सुख नहीं है। सुखका मोह है। भगवान्‌को छोड़कर भोग तो दुःखमय ही हैं। जैसे अफीम और संखिया जहर है, यह दृढ़ विश्वास है; इसीलिये लालच देनेपर भी, बहुत मीठी और सुन्दर मिठाईमें मिलाकर देनेपर भी कोई जान-बूझकर नहीं

खाते; जानते हैं कि मर जायँगे। इसी प्रकार भोगोंका—विषमय परिणाम निश्चय हो जानेपर उनमें कोई रमेगा नहीं। भगवान्‌ने तो गीतामें साफ ही कहा है—'भोगोंसे मिलनेवाला सुख आरम्भमें अमृत-सा मालूम होता है, परन्तु परिणाममें जहर-सा है।' (परिणामे विषमिव) यह बात हम पढ़ते-सुनते हैं, पर विश्वास नहीं करते और यह भी विश्वास नहीं करते कि यदि हमें धन, भोग आदिमें ही सुख मिलता है तो ये वस्तुएँ भी सबसे बढ़कर भगवान्‌में ही हैं। जगत्‌में जितने भोग, सुख, ऐश्वर्य हैं—सभी अनित्य हैं, विनाशी हैं और जो हैं सो भी अत्यन्त ही अल्प हैं। जगत्‌के सारे भोग-सुख-ऐश्वर्य एक स्थानमें एकत्र कर लिये जायँ तो वे सब मिलकर भी भगवान्‌के भोगैश्वर्यके करोड़वें हिस्सेकी छायाकी भी तुलना नहीं कर सकते।

'भगवान्' शब्दका अर्थ ही है—'जिनमें सम्पूर्ण ऐश्वर्य, सम्पूर्ण धर्म, सम्पूर्ण यश, सम्पूर्ण श्री, सम्पूर्ण ज्ञान और सम्पूर्ण वैराग्य—सदा एकरस अनन्त असीम निवास करते हैं, उनको भगवान् कहते हैं।'

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥

(विष्णुपु० ६। ५। ७४)

संसारमें बस छः ही प्रधान वस्तु हैं, जिनकी संसारी और साधक लोग कामना करते हैं—'ऐश्वर्य', 'धर्म', 'यश' (कीर्ति, मान, बड़ाई आदि), 'श्री' (धन-दौलत, तेज, स्वरूप, सौन्दर्य, स्त्री-पुत्रादिसे सम्पन्नता आदि), 'ज्ञान' (लौकिक और पारमार्थिक ज्ञान) और 'वैराग्य'। इनमेंसे कोई किसीको चाहता है तो कोई

किसीको। परन्तु खेद तो यह है कि उन्हें चाहनेवाला चाहता है उससे, जिसके पास ये पूरी नहीं हैं; चाहता है वैसी, जो नाश होनेवाली हैं; चाहता है ऐसे किसीसे, जो दे या न दे अथवा जिसमें देनेकी शक्ति न हो और चाहता है ऐसी अवस्थामें कि जिसमें यदि कुछ मिल भी जाय तो रखनेको ठौर नहीं। मनचाही वस्तु सबको मिलती नहीं, मिलती भी तो अधूरी और दोषयुक्त ही मिलती है। एक जगह तो किसीको अधूरी भी प्रायः नहीं मिलती। ये छहों वस्तुएँ—पूरी-की-पूरी—इतनी कि जिसकी सीमा ही न हो—एक साथ, एक समय, चाहे जितनी, चाहे जिसको एक श्रीभगवान्‌में मिल सकती हैं; और भगवान्‌में वे सब वस्तुएँ सबसे बढ़िया ऐसी क्वालिटीकी हैं कि जिसकी हम तुलना ही नहीं कर सकते।

भगवान् हैं हमारे सुहृद्! हमसे अकारण ही प्रेम करते हैं—वे देनेको तैयार हैं अपने अतुल भण्डारकी चाभी। देर इतनी ही है कि हम विषयोंके मोहको छोड़कर उन्हींपर निर्भर हो जायँ और अपनी कोई भी स्वतन्त्र रुचि या इच्छा न रखकर अपनेको सर्वथा उन्हींकी मर्जीपर छोड़ दें। बस, भगवच्चरणोंमें अपनेको सर्वभावसे डाल दें। वे मारें या बचावें, उनकी इच्छा। और क्या करें?—

'तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता।'

(नारद० १९)

'उन्हें सब कुछ सौंपकर निश्चिन्त होकर उनका स्मरण करें।' जगत्‌में कुछ भी हो जाय। जागतिक दृष्टिसे हमारा कुछ भी हो जाय। हमें कोई चिन्ता न हो, कुछ भी उद्वेग न हो, जरा भी हम न घबरायें। हाँ, उद्वेग, व्याकुलता हो तब, जब एक आधे पलके

लिये भी हम भगवान्‌को भूल जायँ। उनका भूलना हमें सहन न हो। उस समय उस मछलीसे अधिक तड़प हमारे मनमें हो, जो जलसे निकालनेपर उसको होती है। विषय-सुखके लिये चाह ही न करें। विषय-सुखकी चाह—विषय-सुखके लिये होनेवाली चिन्ता और व्याकुलता तो दुःखको बुलानेके साधन हैं। बस, चाह हो ही नहीं, हो तो एक यही कि अपने प्रियतम भगवान्‌का चिन्तन एक आधे क्षणके लिये भी न छूटे। प्रार्थना हो तो यही कि भगवन्! 'तुम्हारे स्मरण विना यह जीवन न रहे। एक क्षण भी तुम्हारा विस्मरण इस जीवनको न सुहावे। तुम कहीं रक्खो इसे, यह अपने कर्मवश कहीं जाय, बस, तुम्हारी स्मृति सदा बनी रहे और तुम अपना कल्याणमय हाथ—स्मृतिके रूपमें सदा सिरपर रक्खे रहो।

चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई।
हेतुरहित अनुराग राम पद, बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल कर्म ले जाहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई।
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँडियो कमठ अंडकी नाँई॥

बस, तुम्हारे चरणोंमें प्रेम बढ़ता रहे, जिससे स्मरण आनन्दमय हो जाय।'

मान-बड़ाई-प्रतिष्ठा, भोग-वासना और कामिनी-काञ्चनका मोह तथा पाप-ताप सब बह जायँगे—भगवत्कृपाकी एक वर्षामें। अमोघ शक्ति है भगवत्कृपामें। उस भगवत्कृपापर विश्वास कीजिये; फिर शान्ति,समता, सर्वत्र भगवद्बुद्धि, और 'सब कुछ भगवान्‌से ही होता है' यह विश्वास आदि सब अपने-आप ही आ जायँगे आपमें—जैसे

राजाके पीछे उसकी सारी सेना आ जाती है। ये सब तो भगवत्कृपा
लवाजमे हैं। जहाँ भगवत्कृपाकी वृष्टि हुई कि काम बना।

कृपा तो है हो विश्वास कीजिये

अन्तमें और कुछ न हो तो तीन बातोंका ध्यान रखिये-
(१) पापोंका त्याग, (२) दैवी सम्पत्तिका उपार्जन और (३
भगवन्नामका नियमित जप।

(१९)

भगवान्का स्वभाव

सप्रेम सादर यथायोग्य। आपका पत्र मिला। उसमें प्रेम
आपके हृदयकी भावुकता भरी है। सच्ची भावुकतामें एक मिठ
होती है, वह उसमें मुझको मिली। मेरा इतना ही निवेदन है
इस भावुकता और अनुरक्तिके प्रवाहका मुख श्रीनन्दनन्दनकी
मोड़ दीजिये। आप धन्य हो जायँगे। मैं तो क्षुद्र प्राणी हूँ, मु
जो आपको इतनी महत्ता दीखती है, यह आपकी सरल भावना
आप सच मानिये—मुझमें अगणित दुर्बलताएँ हैं, असंख्य दोष है

आपने लिखा मुझमें एक भी अच्छी बात नहीं है जि
फलस्वरूप मैं आपको प्रसन्न कर सकूं।' पण्डितजी ! मैं हृद
कहता हूँ—आपके प्रति मैं कभी अप्रसन्न हुआ ही नहीं। चाह
हूँ, किसीके प्रति भी मैं अप्रसन्न न होऊँ। अप्रसन्नताका
कारण भी तो हो। सभी मेरी प्रशंसा करते हैं, मुझे बड़ा बत

हैं, मेरा सम्मान करते हैं, मेरी सेवा करना चाहते हैं। ऐसी दशामें नीच स्वार्थी भी अप्रसन्न नहीं हो सकता, मुझे तो थोड़ी बुद्धिका भी घमंड है। फिर, मेरी प्रसन्नताका मूल्य ही क्या है। न तो यह प्रसन्नता सुख दे सकती है, न दुःख ही टाल सकती है, और राग-द्वेषके अनित्य ढाँचेमें रहनेवाली होनेसे इसके स्थायी होनेकी भी सम्भावना नहीं है। मैं तो यह समझता हूँ कि जिस प्रकारका भाव आप मुझ तुच्छ प्राणीके प्रति दिखलाते हैं, ऐसा उस प्रेमके समुद्र, दयाके अखण्ड स्रोत, सुख, शान्ति और आनन्दके खजाने श्रीश्यामसुन्दरके प्रति रक्खें तो निश्चय ही आप उनके 'प्रिय पात्र' हो जायँ। आपकी सारी अयोग्यताएँ, सारी त्रुटियाँ उनकी पलकके इशारेमात्रसे महान् दिव्य गुणोंके रूपमें पलट जायँ। वे तो योग्यता नहीं देखते; त्रुटियोंको तो अपने हाथोंसे सुधार देते हैं—पापोंका बोझ अपने सरपर उठाकर उसे समुद्रमें बहा आते हैं। वे तो चाहते हैं—सिर्फ हृदयका सच्चा भाव। उनको सच्चे भावसे अपनी 'बाँह गहा दीजिये' भाव देखते ही वे स्वयं आकर बाँह पकड़कर आपको अपने हृदयसे लगा लेंगे। उनका एक स्वभाव है—वे जिसे ग्रहण कर लेते हैं—उसे छोड़ना नहीं जानते, चाहे वह कोई कैसा ही क्यों न हो। उसमें अगर कोई पाप-ताप रहता है तो स्वयं उसे दूर करके उसको निर्मल बना लेते हैं। मातृपरायण बच्चेका मल जननी ही तो धोती है। भाव निर्मल हो, भावोंके प्रवाहका मुख भगवान्‌की ओर मुड़े—इसके लिये उनके नामका जप कीजिये। आपने दो बातें पूछी थीं। दोनों ये हैं—वस्तु है भावको भगवान्‌में अर्पण करना, और करनेके लिये उपाय है नाम-जप।

मेरे प्रति आपका जो प्रेमभाव है, मेरे इस पत्रसे उसका तिरस्कार न समझिये। यह तो मैंने सच्ची स्थिति लिखी है। तुच्छ मनुष्य बालूकी भीतके समान अनित्य है। उसका अपना ही कोई पता नहीं है, तब वह दूसरोंका क्या कर सकता है। परन्तु इसमें प्रेमका क्या सम्बन्ध है, वह तो हृदयकी चीज है, किसीपर भी हो सकती है। आप अगर यह कहें तो मैं इसे स्वीकार करता हूँ और आपके प्रेमको सिर-माथेपर स्वीकार करता हूँ। मैं तो आपलोगोंके प्रेमका ऋणी हूँ! क्या कहूँ, सच्चे प्रेमका बदला कोई होता ही नहीं जो कोई चुका सके। प्रेम तो सदा ही अपना ऋण बढ़ाता ही रहता है। यह उसका स्वरूप है। × × × ×
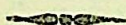
(२०)

भगवान्से तुरंत उत्तर मिलेगा

सादर सप्रेम हरिस्मरण। आपके चारों पत्र मिल गये। उत्तर लिखनेमें मेरी ओरसे बहुत ही अवहेलना हुई, इसके लिये मनमें बड़ा संकोच है। कई बार पत्र लिखनेका विचार किया। दो-चार पंक्तियाँ लिखीं भी परन्तु कोई-न-कोई विघ्न आ गया, जिससे लिखना रुक गया। आप इतनेपर भी मुझसे नाराज नहीं हुए और पत्रोंका उत्तर न लिखनेपर भी बराबर पत्र लिखते रहे, इस कृपा और प्रेमके बदले में तो कुछ भी करनेमें असमर्थ हूँ। आपने मेरे लिये जो कुछ भी शब्द लिखे हैं, उनको पढ़कर मुझे तो लज्जा आती है। मैं ऐसे शब्दोंके लिये सर्वथा अयोग्य हूँ। वास्तवमें आपके पत्रोंका

उत्तर वही दे सकता है, जिसमें आपके लिखे शब्दोंका अर्थ घटता हो। हाँ, मैं आपकी श्रद्धापर इससे कोई आक्षेप नहीं करता। पाषाण या धातुमयी मूर्तिमें भी श्रद्धा और प्रेमके कारण भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं। वस्तुतः सब जगह भगवान् हैं भी। मेरा तो यही लिखना है कि आपको मुझमें जो बातें दिखायी देती हैं, उसका कारण श्रद्धा ही है। मेरी दृष्टिसे तो मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखायी देती। मेरा असौजन्य और अकृतज्ञता तो इसीसे सिद्ध है कि रुग्णावस्थामें आपके लिखे हुए करुण और प्रेमभरे पत्रोंका मैं महीनोंतक उत्तर नहीं लिख पाता। आप अपनी श्रद्धामयी सज्जनता-से फिर भी मुझको चाहते हैं, यह आपकी महिमा है। मेरा तो यह निवेदन है कि आप जिस प्रकार मुझें स्मरण करते हैं और मुझको पत्र लिखते हैं, उसी प्रकार दयार्णव, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणगणा-लङ्कृत, परम सुहृद्, आपके नित्य परम आत्मीय, सदा अतिसमीप रहकर आपकी सारी स्थितियोंको भलीभाँति जानने-समझनेवाले और किसीकी भी बड़ी-से-बड़ी भूलपर भी कभी आपका अहित न करनेकी इच्छा करनेवाले भगवान्‌का स्मरण कीजिये और मनकी भाषामें उन्हें पत्र लिखिये। एक पत्र भी पूरा नहीं लिख पायेंगे— तुरंत आपको आश्वासनपूर्ण उत्तर मिलेगा।

'निरवल ह्वै बल राम पुकारो आये आधे नाम।'

भक्तशिरोमणि गजेन्द्र पूरा नाम भी उच्चारण नहीं कर पाये थे, उनके सामने भगवान् प्रकट हो गये और उन्होंने गजराजको तुरंत बचा लिया। यह अनहोनी या कल्पित कथा नहीं है।

रोगमें क्या समझना चाहिये ?

परन्तु रोगकी निवृत्तिके लिये भी उन्हें क्यों पुकारना चाहिये। रोगकी सौगात भेजनेवाले क्या कोई दूसरे हैं ? और यदि प्रियतम-के हाथसे भेजी हुई चीज रोग है, तो फिर हमें उससे दुःख क्यों होना चाहिये ? जिस वस्तुसे प्रियतमका सम्बन्ध है, जो उनके घरसे आयी है, जिसको उन्होंने भेजा है, जो उनके हाथोंसे स्पर्शित है, जिसको लेकर वही आये हैं, उससे हमें भय और शोक क्यों होना चाहिये ? प्रियतमकी प्यारी छबि उसके पीछे छिपी है, उनका हाथ उससे संलग्न है, अगर यह बात है तो हमें प्रियतमका प्यारा हाथ देखकर उस वस्तुका आलिङ्गन करना चाहिये। और प्रियतम स्वयं ही स्वाँग बदलकर आये हैं तब तो कहना ही क्या है। वस्तुतः दोनों ही बातें सत्य हैं। हम इनमेंसे एकको भी स्वीकार कर लें तो हमारे लिये प्रत्येक क्षण परमानन्दसे पूर्ण हो जायगा। यह तो प्रेम-मार्गकी बात हुई। शरणा-गति और निर्भरतामें भी यही बात है। भगवान्‌के प्रत्येक विधानमें परमानन्दका अनुभव होना और सर्वतोभावसे उन्हींपर निर्भर करना शरणागतिका लक्षण है। इसमें सारी क्रियाएँ भगवत्-प्रेरित होती हैं। यहाँ क्रियाहीनता नहीं है। परन्तु वह क्रिया कठपुतलीके नाचके समान है। वह किसी फलके लिये किया जानेवाला साधन नहीं है। इस निर्भरताके मार्गसे भी रोगके लिये चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं है। चिन्ता तो एकमात्र चिन्तामणिकी ही होनी चाहिये, जिसकी चिन्तासे अन्यान्य समस्त चिन्ताएँ सदाके लिये नष्ट हो जाती हैं।

ज्ञानकी दृष्टिसे तो मायाके कार्यमें मोह होना ही अज्ञान है। अज्ञानकी अपने हाथों दी हुई गाँठको तो खोलना ही चाहिये। ज्ञान और भक्तिके समन्वय पक्षमें भी शरीरकी बीमारीके लिये चिन्ताकी आवश्यकता नहीं। आप विद्वान् हैं, स्वयं विचार कीजिये।

भगवान्की दयामें विश्वास

मेरे निवेदनके अनुसार तो आपको श्रीभगवान्में, उनकी अपार करुणामें, उनके अनन्त प्रेममें, उनकी अहैतुकी सुहृदतामें और उनकी असीम दयामें विश्वास करके यह दृढ़ निश्चय कर लेना चाहिये कि 'हमारा परम कल्याण निश्चित है'। यदि भगवान्पर विश्वास करके आप अपने कल्याणके लिये संशयहीन हो जायँगे तो आपका कल्याण निश्चित है। बस, भगवान्की दयापर विश्वास करनेभरकी देर है। इस विश्वासकी प्राप्तिके लिये भी भगवान्से करुण प्रार्थना करनी चाहिये। एक बारकी हृदयकी करुणायुक्त पुकार भगवान्के आसनको डुला देती है 'जिन्हहि परम प्रिय खिन्न।' जो उनके लिये खिन्न होता है, जिसको उनका विरह-ताप जलाये डालता है, उससे मिले बिना वे नहीं रह सकते। रोगसे घबराइये नहीं। यह रोग यदि आपके अनन्तकालीन जीव-जीवनका अन्तिम रोग बन सके, तो रोगका स्वागत करना चाहिये। और ऐसा बन सकना आपके हाथ है। आपके हाथसे मेरा मतलब आपके पुरुषार्थसे नहीं है। आपके हृदयसे है। जो यह कह सके कि 'मेरे हाथमें कुछ नहीं है, हे नाथ! सब कुछ तुम्हारे हाथ है, जो चाहो सो करो, तुम्हारी चीजमें मैं एतराज करनेवाला कौन। फिर मैं भी तो तुम्हारी ही चीज हूँ। एतराज करता हूँ तो तुम्हीं

करते-करवाते हो। तुम्हीं तुम्हारी जानो। और जो चाहो सो करो-कराओ।'

(२१)

भगवान्‌की असीम कृपा

सप्रेम हरिस्मरण। आपका प्रेमभरा पत्र मिला। दया और स्नेह तो श्रीभगवान्‌का हम सभीपर अनन्त है, इतना अनन्त है जिसकी कहीं कोई सीमा ही नहीं। मैं यहाँसे जानेवाला तो जल्दी था, परन्तु देर हो ही गयी। श्रीभगवान्‌का विधान मङ्गलपूर्ण ही होता है। पूज्यपाद श्रीमहाराजजीने जो आशीर्वाद दिया सो उनकी बड़ी कृपा है। दिन बहुत आनन्दसे कट रहे हैं। भगवान्‌की बड़ी ही कृपा है। मैं तो बस, इतना ही जानता हूँ—भगवान्‌की मुझपर असीम कृपा है। इसके सिवा और कोई महिमा हो तो पता नहीं। और भगवान्‌से प्रार्थना भी यही है कि वे यदि कृपा करके जनावें तो अपनी ही महिमा जनावें—मेरे तो दोष ही दिखलावें। सचमुच बात भी यही है। मनुष्य तो दोषों-से भरा है—परन्तु भगवान्‌का हृदय अनन्त माताओंके अनन्त हृदयोंके अनन्त एकत्रीकृत वात्सल्यकणोंका महान् अगाध समुद्र है। उस वात्सल्य-समुद्रकी कोई सीमा ही नहीं है। इससे भगवान्—कैसा भी अपराधी कोई क्यों न हो, जरा भी सामने आते ही उसे पाप-शून्य करके अपनी मधुमयी पवित्र गोदमें ले लेते हैं। जो सामने नहीं आता, उसका भी अपनी सहजसुहृदतावश कल्याण ही

करते हैं। प्रकार विभिन्न हैं, करते तो कल्याण ही हैं। कल्याणमय जो ठहरे। श्रीभगवान्में वस्तुतः किसीका अकल्याण करनेकी शक्ति ही नहीं है। संसारमें दुःख-सुखके कोई भी कैसे भी दृश्य आवें, सभी उनकी कल्याणमयी लीलाके ही तो सीन हैं। बस, आनन्द-ही-आनन्द, कल्याण-ही-कल्याण! आपकी निष्ठा, गुरुभक्ति, श्रद्धा सराहनीय है। आपका हृदय बड़ा निर्मल है। आपके निर्मलहृदय-की भावना मेरे लिये लाभदायक ही होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं। आपकी निष्ठा प्रेम, हृदयकी सरलता और निष्कपटता, श्रद्धा और विश्वास, भजन और भाव सभी उच्च स्तरके हों—यह तो मैं स्वाभाविक ही देखना चाहता हूँ।

---

(२२)

भगवान्की कृपाशक्ति

एक पत्रमें आपने इस आशयकी बात लिखी थी कि किसी समय मेरे किसी संकल्पसे आपके मनमें बार-बार उठनेवाली एक बुरी वासना शान्त हो गयी थी, इसलिये अब मैं पुनः ऐसा संकल्प करूँ जिससे आपकी कोई दूसरी बुरी वासना भी शान्त हो जाय। इसपर मेरा यह निवेदन है कि यदि उस बार ऐसा हुआ तो इसमें प्रधान कारण भगवत्-कृपा और आपकी श्रद्धा है, मेरे सङ्कल्पोंमें मुझे ऐसी कोई शक्ति नहीं दीखती जिसके बलपर मैं कुछ कर सकता हूँ ऐसा कह सकूँ। हाँ, आपके मनसे बुरी वासना नाश हो जाय यह मैं भी चाहता हूँ। आप भगवत्-कृपापर विश्वास करें और श्रद्धापूर्वक

ऐसा निश्चय करें कि 'भगवान्की दयासे अब मेरे मनमें अमुक बु
वासना कभी न उठे।' तो मेरा विश्वास है कि यदि आपका निश्
दृढ़ श्रद्धायुक्त होगा तो आपके मनसे उक्त बुरी वासना
सकती है। श्रीभगवान्की शक्ति अपरिमित है, जो मनुष्य अपने
भगवान्पर सर्वतोभावेन छोड़ देता है, अपना सारा बल भगवा
चरणोंमें न्योछावरकर भगवान्के बलका आश्रय कर लेता है,
भगवान्की अचिन्त्य महिमामयी कृपाशक्तिके द्वारा सुरक्षित हो
वह समस्त विरोधी शक्तियोंपर विजयी हो सकता है। निर्भरता अ
ही सत्य, पूर्ण और अनन्य होनी चाहिये। फिर उसे कुछ भी चि
नहीं करनी पड़ती।

सत्यका स्वरूप और उसका महत्त्व

सत्यका महत्त्व समझमें आ जानेके बाद जरा-सा भी सत्य
अपलाप बहुत ही असह्य मालूम होता है। सत्यके द्वारा प्राप्त होने
अतुलनीय आनन्द और शान्तिका आस्वादन नहीं होता, तभी
असत्यकी ओर प्रवृत्ति होती है। श्रीभगवान्में पूर्ण विश्वास होने
भी असत्य छूट जाता है। आसक्ति, मोह और प्रमादवश ही मनु
झूठ बोलता है और उसके द्वारा सफलताकी सम्भावना मानता
मनोरञ्जनके लिये झूठ बोलना प्रमाद है। स्वभाव बिगड़ जाने
असत्य छूटना अवश्य ही कठिन हो जाता है, परन्तु यह
मानना चाहिये कि वह छूट ही नहीं सकता। वास्तवमें आ
सत्-स्वरूप है, आत्माका स्वरूप ही सत्य है। अतएव असत्य आ
का स्वभाव नहीं है। भूलसे इस दोषको आत्माका स्वरूप
लिया जाता है। जो बाहरसे आयी हुई चीज है, उसको निका

असम्भव कदापि नहीं है। पुरानी होनेकी वजहसे कठिन अवश्य है। भगवान्‌की कृपापर भरोसा करके दृढ़तापूर्वक पुराने अभ्यासके विरुद्ध नया अभ्यास किया जाय और बीचमें ही घबराकर छोड़ न दिया जाय, तो असत्यका पुराना अभ्यास निश्चय ही छूट जा सकता है। इस बातपर अवश्य विश्वास करना चाहिये। दुर्गुण और दुर्भाव, आत्मा या अन्त:करणके धर्म नहीं हैं, स्वाभाविक नहीं हैं। अतएव इनको नष्ट करना, यथायोग्य परिश्रमसाध्य होनेपर भी सर्वथा सम्भव है।

यहाँ एक बात यह सत्यके सम्बन्धमें जान रखनी चाहिये। सत्य वही है, जिसमें किसी प्रकारका कपट न हो और जो निर्दोष प्राणीका अहित न करता हो मानो सत्यके साथ सरलता और अहिंसाका प्राण और जीवनका-सा मेल है। इनका परस्पर अविना-भाव-सम्बन्ध है। वाणीसे शब्दोंका उच्चारण ज्यों-का-ज्यों होनेपर भी यदि कपटयुक्त भावभंगीके द्वारा सुननेवालेकी समझमें यथार्थ बात नहीं आती तो वह वाणी सत्य नहीं है। इसके विपरीत शब्दोंके उच्चारण-में एक-एक अक्षरकी या वाक्यकी यथार्थता न होनेपर भी यदि सुननेवालेको ठीक समझा देनेकी नीयत, इशारों या भावोंका प्रयोग करके उसे यथार्थ समझा देनेकी सरल चेष्टा होती है तो वह सत्य है। उच्चारणमें वाणीकी प्रधानता होनेपर भी सत्यका यथार्थ सम्बन्ध मनसे है। इसी प्रकार किसी निर्दोष जीवका अहित करने-की इच्छा या वासनासे जो सत्य शब्दोंका उच्चारण किया जाता है, वह भी परिणाममें असत्य और अनिष्ट फलका उत्पादक होनेसे

असत्यके ही समान है। मन, वचन तथा तनमें कहीं भी छल
होकर जो सरल भाषण होता है, वही अहिंसायुक्त होनेपर स
समझा जाता है।

क्रोधनाशके उपाय

क्रोधके नाशके प्रधान उपाय दो हैं—

१—सबमें भगवान्को देखना। २—सब कुछ भगवान्
विधान समझकर प्रत्येक प्रतिकूलतामें अनुकूलताका अनुभव करना
और भी अनेकों उपाय हैं, उनसे सावधानीके साथ काम ले
चाहिये। सर्वत्र सबमें भगवान्को देखनेका अभ्यास करना चाहिये
और जिनसे व्यवहार पड़ता हो उनको भगवान्का स्वरूप समझक
पहले मन-ही-मन उन्हें प्रणाम कर लेना चाहिये। तदनन्तर यथ
योग्य निर्दोष व्यवहार करना चाहिये। श्रीभगवान् हैं, यह बात या
रखनेपर व्यवहारमें निर्दोषता अपने-ही-आप आ जायगी।

नरकके तीन द्वार

धनका लोभ न रखकर कर्तव्यबुद्धिसे या इससे भी उ
भावना हो तो भगवान्की सेवाके भावसे धनोपार्जनके लिये चेष्ट
करनी चाहिये। यह भाव रहेगा तो दोष नहीं आ सकेंगे। धनोपार्जन
में पापोंका प्रवेश लोभके कारण ही होता है। यह याद रखन
चाहिये कि काम, क्रोध और लोभ तीनों नरकके द्वार हैं और आत्मा
का पतन करनेवाले हैं। श्रीभगवान्ने गीतामें स्पष्ट इस बातक
घोषणा की है, अतएव इन तीनोंसे यथासाध्य बचना चाहिये।

पर-धन और पर-स्त्रीमें विषबुद्धि

पर-धन और पर-स्त्रीमें विष-बुद्धि होनी चाहिये। उन्हें जलती हुई आग या महाविषधर सर्प समझकर उनसे दूर—अति दूर रहना चाहिये। सद्धेतुसे भी पर-धन या पर-स्त्रीमें प्रीति होनेपर गिरनेका डर रहता है; क्योंकि ये ऐसी ही वस्तुएँ हैं। जरा-सी दूषित आसक्ति उत्पन्न होते ही पतन होते देर नहीं लगती। इसीसे साधकोंके लिये शास्त्रोंमें इनका 'स्व' होनेपर भी वर्जन ही श्रेयस्कर बतलाया गया है। 'पर' तो प्रत्यक्ष नरकानल है ही। अतएव बार-बार दोष और दुःखबुद्धि करके पर-स्त्री और पर-धनकी ओर चित्तवृत्तिको कभी जाने ही नहीं देना चाहिये।

भगवान्‌की दयापर विश्वास

एक बात और, वह यह कि श्रीभगवान्‌की दयापर विश्वास करके उनका स्मरण करते रहना चाहिये। भगवान्‌पर निर्भर हो जानेसे सारी विपत्तियाँ अपने-आप ही टल जाती हैं। भगवान् कहते हैं—तुम मुझमें मन लगाये रक्खो, फिर मेरी कृपासे सारी बड़ी-से-बड़ी कठिनाइयोंको सहज ही लाँघ जाओगे।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि ॥

(गीता १८।५८)

भगवान्‌की इस आश्वासन-वाणीपर विश्वास करके उनपर निर्भर होनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

—:०:—

(२३)

दुःखमें भी भगवान्की दया

मनुष्यकी दृष्टि अत्यन्त सीमित है। वह अपनी आँखोंके साम घटनेवाली कुछ घटनाओंको ही केवल देख सकता है। उसकी दृष्टि केवल स्थूल देह ही सत्य है और वह ममता-मोहके चक्करमें फँसक चाहता है कि मेरा और मेरे सम्बन्धियोंके स्थूल शरीर मुझसे अल न हों। यदि कहीं उसकी इच्छाके विपरीत कोई घटना घटित हो तो वह बहुत दुखी होता है और विक्षिप्त होकर भगवान्की सत् महत्ता और उनकी दयालुतापर ही आक्षेप करने लगता है। पर इससे भगवान्की दयापूर्ण दृष्टिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। वे सद सबका कल्याण करते आये हैं और कल्याण ही करते रहते हैं।

इसे इस प्रकार समझिये--कोई दयालु स्वामी अपने कि कर्मचारीको कोई उच्चपद देना चाहता हो और इसीके लिये उ एक स्थानसे दूसरे स्थानके लिये परिवर्तन कर रहा हो--पर वह कर्मचारी और उसके घरवाले उच्चपद पानेकी बात न जानें, व परिवर्तनका विरोध करें और रोयें-पीटें, पर दयालु स्वामी उनके रो गिड़गिड़ानेपर तनिक भी ध्यान न देकर अपनी दयाकी वर्षा कर है। आपके सुपुत्र होनहार थे। उनके कर्म उज्ज्वल और साध ऊँची थी--इस बातका यह प्रबल प्रमाण है कि अन्तिम श्वास उन्होंने भगवन्नामका उच्चारण किया। इससे सिद्ध होता है भगवान्ने उन्हें इससे भी उत्तम स्थिति देनेके लिये आपसे अल किया और अपने पास बुलाया। भगवान् अपनी वस्तुको अपना

उसे बुलाकर सर्वदाके लिए अपने पास रख लें—यह हमारे लिये प्रसन्नताकी बात होनी चाहिये। परन्तु हमारी ममता, हमारे जन्म-जन्मान्तरोंका अभ्यस्त मोह हमें बार-बार कष्ट देता है और वही हमें इस बातके लिये प्रेरित करता है कि हम भगवान्की इच्छा पूरी न होने दें—अपनी इच्छा पूरी करें।

केवल आपके पुत्रको सुख हो और आपको दुःख—यह भी इस घटनाका उद्देश्य नहीं समझना चाहिये। क्योंकि आपकी पूरी ममता भगवान्पर ही होनी चाहिये। जैसे भगवान् जीवके अनन्य प्रेमी हैं वैसे ही वे उसके अनन्य प्रियतम भी हैं। वे चाहते हैं कि जीव मुझसे ही हँसे, मुझसे ही खेले और मुझसे ही प्रेम करे। जब जीव उनके दिये हुए खिलौनोंसे इतना उलझ जाता है कि स्वयं उनको भी भूल जाता है तब वे उन खिलौनोंको छीनकर उसकी पूरी ममता अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं। इस घटनाको पूर्णरूपसे आपके और आपके पुत्र—दोनोंके लिये ही हितकर समझिये। इस-पर विचार कीजिये और अपने एकमात्र सुहृद्, पूर्ण हितैषी भगवान्के प्रेम और श्रद्धासे सराबोर होकर उनके भजनमें लगे रहिये।
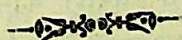
(२४)

प्रभुकी इच्छा कल्याणमयी होती है

प्रभुकी इच्छा कुछ भी हो, है कल्याणमयी ही। प्रभुमें अशुभ इच्छा होती ही नहीं। संसारमें ये क्रिया-प्रतिक्रिया तो चलती ही रहेंगी।

श्रीभगवान्का भजन करते रहियेगा। संसारके कामोंके लिये भगवत्प्रेरणानुसार उचित चेष्टा कर लेनी चाहिये। फिर जो कुछ भी हो, उसीमें सन्तोष करना चाहिये। क्योंकि वही होना पहलेसे निश्चित था।

(२९)
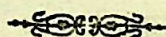
सर्वोत्तम चाह

आपलोगोंसे तो नहीं ऊबा, अवश्य ही अपनी कमजोरियोंसे घबराता हूँ और इसीलिये सब काम छोड़कर एकान्तमें रहनेकी कामना भी प्रबल होती है। परन्तु मेरी कामनासे क्या होता है। आखिर नटवर जैसे नचाते हैं, वैसे ही नाचना पड़ता है। सन्तोष-की बात इतनी ही है कि उनके द्वारा उनके इच्छानुसार नचाये जानेमें सुख मिलता है और उनके मङ्गलविधानपर जरा भी क्षोभ न होकर प्रसन्नता होती है। यह भी उन्हींकी कृपा है। यह जानता हूँ—कहता हूँ—'करी गोपालकी सब होय। जो अपनो पुरुषारथ मानत अति झूँठो है सोय॥' तथापि कामना भी होती है और तदनुसार उद्योग भी। फिर मनमें आता है कि यह कामना भी उन्हींकी प्रेरित है। मैं इसे छोड़नेका अभिमान करनेवाला भी कौन होता हूँ। तब फिर जो कुछ होता है—कभी-कभी उनके प्राणो-ल्लासकारी करकमलका स्पर्श पाकर, कभी-कभी उनकी मधुर मुसकानभरी मुख-छविके दर्शन पाकर, निहाल हो जाता हूँ और उनके पावन चरणोंमें लुट पड़ता हूँ—यह दशा है। आपको क्या

लिखूँ। मनमें क्या-क्या आती है—इस बातको मनके मालिक अन्तर्यामी ही जानते हैं।

रही 'अवकाश हो और कष्ट न हो तो उपदेशप्रद बातें' लिखनेकी बात, सो अवकाश भी है, कष्ट भी नहीं होता, आलस्य अवश्य घेरे रहता है। परन्तु 'उपदेशप्रद' क्या लिखूँ, यह समझमें नहीं आता। जो कुछ भी कहना चाहता हूँ, इच्छा होती है यह देखनेकी कि वह बात मुझमें है या नहीं। और यदि नहीं है तो वह उपदेश पहले अपनेको ही करना चाहिये न? जो उपदेश अपने लिये नहीं होता, वह तो नाटकका अभिनयमात्र है। नाट्यमञ्चपर शङ्कराचार्य, चैतन्य और बुद्धका बड़ा सुन्दर पार्ट हो सकता है, परन्तु इससे अभिनेता वैसा ही है, यह नहीं माना जा सकता। गोस्वामीजी महाराजका एक पद लिखता हूँ। चाहता हूँ—ऐसा ही बन जाऊँ और आपसे भी प्रार्थना करता हूँ, आप भी ऐसे ही बननेकी कोशिश कीजिये। होगा तो भगवान्‌की कृपासे पूर्ण उनके मङ्गल-विधानसे ही।

यह बिनती रघुबीर गोसाँई।
और आस बिसवास भरोसो हरो जियकी जड़ताई॥
चहौं न सुगति सुमति संपति कछु रिधि सिधि बिपुल बड़ाई॥
हेतुरहित अनुराग रामपद बढ़ु अनुदिन अधिकाई॥
कुटिल करम लै जाँहिं मोहि जहँ जहँ अपनी बरिआई॥
तहँ तहँ जनि छिन छोह छाँड़ियो, कमठ अंडकी नाईं॥
या जगमें जहँ लगि या तनुकी प्रीति-प्रतीति-सगाई॥
सो सब तुलसिदास प्रभु ही सों होहिं सिमिटि इक ठाईं॥

इसी प्रकारके भक्त वृत्रासुरके वचन हैं—

अहं हरे तव पादैकमूल-
दासानुदासो भवितास्मि भूयः ।
मनः स्मरेतासुपतेर्गुणांस्ते
गृणीत वाक् कर्म करोतु कायः ॥
न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे ॥
अजातपक्षा इव मातरं खगाः
स्तन्यं यथा वत्सतराः क्षुधार्ताः ।
प्रियं प्रियेव व्युषितं विषण्णा
मनोऽरविन्दाक्ष दिदृक्षते त्वाम् ॥
ममोत्तमश्लोकजनेषु सख्यं
संसारचक्रे भ्रमतः स्वकर्मभिः ।
त्वन्माययाऽऽत्मात्मजदारगेहे-
ष्वासक्तचित्तस्य न नाथ भूयात् ॥*

(श्रीमद्भा० ६ । ११ । २४—२७)

—इनका अर्थ तो आप जानते ही हैं।

---

* हरे ! जो आपके श्रीचरणकमलोंके आश्रित भक्त हैं, मैं फिर उन्हींके दासोंका दास बनूँ। प्राणप्रियतम ! मेरा मन आपके मङ्गलमय गुणोंका स्मरण करे, मेरी वाणी गुण-गान करे और शरीर सदा आपके सेवा-कार्यमें लगा रहे। सर्वसौभाग्यनिधे ! मैं आपको छोड़कर स्वर्ग, ब्रह्मलोक,

सचमुच इसीमें परमानन्द है, यही परमानन्द है। सारी शक्ति इसीकी ओर लगा देनी चाहिये। श्रीध्रुवजीने कहा है—

नूनं विमुष्टमतयस्तव मायया ते
ये त्वां भवाप्ययविमोक्षणमन्यहेतोः।
अर्चन्ति कल्पकतरुं कुणपोपभोग्य-
मिच्छन्ति यत्स्पर्शजं निरयेऽपि नृणाम्॥
या निर्वृतिस्तनुभृतां तव पादपद्म-
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ मा भूत्
किं त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात्॥*

(श्रीमद्भा० ४। ९। ९-१०)

सार्वभौम साम्राज्य, रसातलका आधिपत्य, योगकी सिद्धियाँ—यहाँतक कि मोक्ष भी नहीं चाहता। जैसे पक्षियोंके पंखहीन बच्चे अपनी माकी बाट देखते रहते हैं, जैसे भूखे बछड़े अपनी माका दूध पीनेके लिये आतुर रहते हैं और जैसे वियोगिनी पत्नी अपने परदेश गये हुए पतिसे मिलनेके लिये व्याकुल रहती है वैसे ही कमलनयन! मेरा मन आपके दर्शनके लिये छटपटा रहा है। प्रभो! मुझे अपने कर्मवश ससारचक्रमें जहाँ कहीं भी भटकना पड़े वहीं-वहीं मेरी आपके प्यारे भक्तोंसे प्रीति रहे, भगवन्! जो लोग आपकी मायासे स्त्री, पुत्र और देह-गेहमें आसक्त हों, उन विषयी पुरुषोंसे मेरा कोई भी सम्बन्ध न हो।

* हे प्रभो! इन शवतुल्य शरीरोंके द्वारा भोगा जानेवाला, इन्द्रिय और विषयोंसे उत्पन्न सुख तो नरकमें भी मिल जाता है। जो लोग इस विषय-सुखके लिये ललचाते रहते हैं और जन्म-मृत्युमय संसारसे छुड़ा देनेवाले कल्पवृक्षरूप आपकी उपासनाको भगवत्प्राप्तिके बदले दूसरे किसी उद्देश्यकी पूर्तिमें लगाते हैं, उनकी बुद्धि निश्चय ही आपकी

आपने लिखा 'मैं बड़ी-बड़ी बातें तो बना जाता हूँ लेकिन मुझसे थोड़ा-सा भी होता नहीं।' सो आज तो मैंने ही बड़ी-बड़ी बातें बनायी हैं। होना भी सब उनके हाथ है। वे करायेंगे तभी होगा। हमें बस, उन्हींकी अनुकम्पाकी प्रतीक्षा करनी चाहिये। और हो सके तो नाम-स्मरण, नामोच्चारण किसी भी प्रकारसे करते रहना चाहिये।

सचमुच 'मन' बड़ा प्रबल है और यह भी ठीक है कि वह आपका है भी नहीं। फिर आप क्यों चिन्ता करते हैं? जिसका है, वह आप ही जैसा चाहता है, उसे बनाता है, रखता है। उसकी चीजपर उसीका अधिकार होना चाहिये न!

आपने बड़ा पत्र लिखकर मेरा 'असूल्य समय लिया मैंने व्याज-समेत उसे उगाह लिया है। आप जीतमें नहीं रहे।

भैया! मजाककी बात जाने दीजिये। असल बात तो यह है कि हमारा जीवन जा रहा है। हमारे सम्बन्धी, मित्र, बन्धु चले जा रहे हैं—मानव-जीवनको समाप्त करके। हमें इसे समाप्त होनेसे पहले ही भगवान्‌का बना देना चाहिये। अवश्य-अवश्य!

जरि जाहु सो जीवन जानकिनाथ जिये जगमें तुम्हरो बिनु ह्वै॥

मायाके द्वारा ठगी गयी है। आपके चरणकमलोंका ध्यान करनेसे और आपके भक्तोंके चरित सुननेसे प्राणियोंको जो आनन्द प्राप्त होता है, वह निजानन्दस्वरूप ब्रह्ममें भी नहीं मिल सकता। फिर जिनको कालकी तलवार काटे डालती है उन स्वर्गके विमानोंसे गिरनेवाले पुरुषोंको तो वह सुख मिल ही कैसे सकता है!

(२६)

भोग-तृष्णामें दुःख

तुम्हारा पत्र मिला। भाई! दुःखोंसे घबराओ मत। दुःख-कष्टोंके आघातसे यदि चेतना खो दोगे तो बड़ी हानि होगी। मनुष्यजीवन ही व्यर्थ हो जायगा। दुःख-दैन्य और आधि-व्याधि भी तो भगवान्‌की ही सृष्टि है; विश्वास रक्खो, हमारे मंगलके लिये भगवान्‌ने इनको रचा है। इनकी चोटमें भगवान्‌के कोमल करस्पर्शके सुखका अनुभव करो—चपत करारी है परन्तु है तो प्यारेके हाथकी। वह स्नेहसे ही मारता है, क्योंकि वह कभी स्नेहरहित निर्दय हो ही नहीं सकता। हम दिन-रात विषय-चिन्तन करते हैं, विषयोंके पीछे पागल बने हुए हैं, विषयोंके नाश और विषय-भोगोंके अभावको ही दुःख-कष्ट समझते हैं; इसीसे सदा दुःखोंके तापसे तपते रहते हैं। यदि भगवच्चिन्तन करने लगें, आनन्दमय भगवान्‌का ध्यान करने लगें तो यह विषयोंका अभाव ही हमारे लिये सुखकर हो जायगा। फिर संसारका कोई भी दुःख आनन्दमयके ध्यानमें प्रशान्त हुए हमारे चित्तमें क्षोभ उत्पन्न नहीं कर सकेगा।

भाई! यह मनुष्य-जन्म धन कमाकर भोग भोगनेके लिये नहीं है; संसारमें तुम इसलिये मनुष्य बनाकर नहीं भेजे गये हो कि तुम दिन-रात केवल विषय-भोगोंके बटोरनेकी चिन्तामें लगे रहो, क्षण-क्षणमें विषयके नाशकी भावनासे दुखी और विषयप्राप्तिके संकल्पसे सुखी होते रहो, और अपने जीवनको इन कल्पित दुःख-सुखोंकी तरङ्गोंके आघातसे चूर-चूर करके अन्तमें हाथ मलते,

पछताते, रोते मनुष्यजीवनसे हाथ धोकर चले जाओ। यह जीवन तो मिला है तुम्हें भगवान्‌को पानेके लिये। जगत्‌के सारे दुःख-सुखोंमें जीवनके इस उद्देश्यको कभी न भूलो। यहाँके दुःख वस्तुतः हैं ही क्या, जिनसे तुम इतना घबरा रहे हो? जिसको तुम दुःख कहते हो वह विषयोंका अभाव ही तो है, परमात्माको चाहनेवाले साधक तो हँसते-खेलते जान-बूझकर विषयोंका सर्वथा त्याग करके सुखी हुआ करते हैं। मान-सम्मानके मोहमें मत फँसो। धनियोंके भोगों, महलों और मोटरोंकी ओर देखकर दिल न ललचाओ, उनके-जैसे बनकर उनके बीच बैठनेकी इच्छा न करो। इसमें अपमान, असम्मान या लाञ्छनकी कौन-सी बात है? याद रक्खो, संसारके मान-सम्मानसे मण्डित, पर भगवान्‌को भूले हुए विषयासक्त धनीकी अपेक्षा अपमानित और लाञ्छित वह दरिद्र बहुत ही उत्तम है जो सदा अपने चित्तको भगवान्‌में लगानेकी चेष्टा करता है और भगवान्‌का भजन करता है। याद रक्खो, वह विषयासक्त धनी नरकोंकी आगमें जलेगा और वह गरीब भगवान्‌रूपी स्नेहमयी जननीकी सुख-शान्तिभरी गोदका लाड़ला शिशु होगा। तुम इन दोनोंमें किस स्थितिको पसंद करते हो? फिर क्यों दुखी होते हो धनके अभावमें? क्यों अपनेको अपमानित समझते हो बहुत शानसे न रह सकनेमें? क्यों शर्माते हो गरीबी हालतमें रहने और सीधे-सादे जीवनमें? तुम समझदार हो, इस मोहको छोड़ दो। भगवान्‌ने तुमपर कृपा की है, जो धन-मदसे तुम्हें मुक्त कर दिया है। अब निर्द्वन्द्व होकर सुखसे भगवान्‌का भजन करो, तुम्हारा मंगल होगा। विश्वास करो, भगवान्‌का मंगलमय हाथ सदा ही तुम्हारे मस्तकपर

है। विश्वासके साथ भजन करते रहोगे तो कुछ दिनोंमें इसका स्वयं अनुभव करोगे !

धनी बनने, धनियोंका-सा खर्चीला जीवन बिताने और धनियोंके गिरोहमें बैठने-उठनेकी लालसाने ही असलमें तुम्हें दुखी बना रक्खा है। नहीं तो रोटी मिलती ही है, कपड़े तन ढकनेको मिल ही जाते हैं, सोने-बैठनेको जमीन है ही। फिर और क्या चाहिये ? धनी लोग क्या धन होनेके कारण आध पाव अन्नके बदले दो-चार सेर खाते हैं ? अथवा क्या वे साढ़े तीन हाथकी जगह दस-बीस हाथ जमीनपर सोते हैं ? क्या वे रुपयोंकी गठरी बाँधे साथ लिये फिरते हैं ? खाते-पीते उतना ही हैं, सोते उतनी-सी जमीनपर ही हैं। शरीर भी उनके रुपयोंसे लदे नहीं होते। फिर तुम्हारी-उनकी स्थितिमें क्या अन्तर है ? हाँ, इतना अवश्य है, उनमें धनका अभिमान है, अपनेसे बड़े धनियोंसे ईर्ष्या है; और तुममें धनके अभावका विषाद है और तुम अपनेको दुखी मानते हो। दुखी तो वे भी हैं, क्योंकि वे भी अपनी स्थितिमें सन्तुष्ट नहीं हैं। भाई ! यह मोह छोड़ दो—भजन करके जीवनको सार्थक करो। मोटा खाना, मोटा पहनना, गरीबीसे रहना, सन्तोष हो तो महान् सुखकर है और भगवान्‌की प्राप्तिमें बड़ा ही सहायक है।

भगवान्‌के लिये बड़े-बड़े राजाओंने संन्यास लिया था, तुमपर तो भगवान्‌की कृपा है जो तुम्हारे विषय-भोग अपने-आप ही कम हो गये हैं। जीवननिर्वाहकी चिन्ता विश्वम्भरपर छोड़ दो—बने जितना निर्दोष कर्म करते रहो—जीवननिर्वाह हो ही जायगा।

घबराओ नहीं। भगवान्पर भरोसा रखनेवाले कभी इसकी चिन्ता नहीं करते। वे तो भगवच्चिन्तन ही करते हैं। उनके लौकिक-पारलौकिक योगक्षेमको भगवान् वहन करते हैं। गीताके इस श्लोकको याद करो—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥
(९।२२)

भगवान् कहते हैं—'जो अनन्य भक्त मुझको निरन्तर चिन्तन करते हुए मेरा भजन करते हैं उन नित्य मुझमें लगे हुए भक्तोंका योगक्षेम मैं स्वयं वहन करता हूँ।'

उस सुखकी कभी इच्छा न करो जो भगवान्को भुला दे, और उस दुःखका स्वागत करो जो भगवान्का स्मरण करावे—

सुखके माथे सिल पड़ो जो नाम हृदैसे जाय।
बलिहारी वा दुःखकी जो छिन छिन राम रटाय ॥

सच्ची बात तो यह है कि भगवान्को भुलाकर भोगोंसे कभी मनुष्य सुखी हो ही नहीं सकता। भोग तो दुःख ही पैदा करते हैं। भगवान्ने कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५।२२)

'विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संयोग होनेपर उत्पन्न होनेवाले जो ये भोग हैं वे निश्चय ही दुःखके हेतु और आदि-अन्तवाले हैं, अर्जुन ! बुद्धिमान् पुरुष उनमें प्रीति नहीं करता।'

सारा दुःख इन भोगोंकी तृष्णामें ही है; अतएव भाई ! शान्तिपूर्वक विचार करो और भोगतृष्णाका नाश करके भगवान्‌का भजन करो। महाभारतमें कहा है—

यच्च काममुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

'संसारमें जो भोग-सुख हैं और स्वर्गादिके महान् दिव्य सुख हैं, वे कोई-से भी तृष्णा-नाशके सुखके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं है।'

(२७)

वैराग्यका भ्रम

आपका कृपापत्र मिला। आप लिखते हैं—'मुझे घरसे वैराग्य हो गया है, घरमें माता-पिता, भाई-बहिन, स्त्री बालक सभी हैं परन्तु किसीमें मन नहीं अटकता, उनसे मनका मेल ही नहीं खाता। सबसे नफरत-सी हो चली है। चाहता हूँ—संसार त्याग कर वनमें चला जाऊँ। परन्तु कठिनता यह है कि शरीरके सुख और आरामकी इच्छा अभी बनी हुई है। कभी-कभी पापभावना भी मनमें आ जाती है। काम-क्रोध तो हैं ही। शारीरिक तकलीफ सहन नहीं होती। यहाँ तो कुछ-कुछ लोग सेवा भी करते हैं। दुःख तो यह है कि मुझसे भगवान्‌का भजन भी नहीं होता। चित्तमें उचाट-सी रहती है कि कहीं भाग जाऊँ। न घर सुहाता है, न कहीं भागते ही बनता है। चित्त शान्त नहीं है ! बताइये क्या करूँ ?'

आपने अपनी सच्ची हालत लिख दी, कुछ छिपाया नहीं, इससे मालूम होता है, आपका हृदय बड़ा सरल है और सरल हृदय साधना करनेपर बहुत ही शीघ्र भगवान्‌का निवासस्थान बन सकता है। सच्ची बात तो यह है कि आपको वैराग्य नहीं हो गया है। वैराग्य होनेपर काम-क्रोध नहीं रह पाते। न सुख और आरामका ही खयाल रहता। जब किसी विषयमें आसक्ति ही नहीं रही, तब कामना कहाँसे पैदा होती, और कामना न होनेपर क्रोध भी क्योंकर होता? आपने इस स्थितिको वैराग्य समझ लिया—यही आपकी भूल है। यह तो वस्तुतः आसक्तिका ही एक रूपान्तरमात्र है। आपको जो नफरत-सी हो चली है, घरवालोंके प्रति घृणा होती है, इसका कारण यही है कि आप उनसे जैसा और जितना सुख चाहते हैं, अपनी कामनाकी जितनी पूर्ति आप उनसे करवाना चाहते हैं उतनी नहीं हो पाती। बल्कि कभी-कभी आपको ऐसा प्रतीत होता है कि ये लोग तो मेरे सुखके मार्गमें बाधक हैं, मेरे मनोरथके प्रतिकूल हैं। इसीसे आपहीके शब्दोंमें—उनसे 'आपके मनका मेल ही नहीं खाता।' इसीसे नफरत होती है। और आश्चर्यकी बात तो यही है कि इसको आपने वैराग्य मान लिया है। यह वैराग्य नहीं है, यह है झुँझलाहटभरी अकर्मण्यता, जो आपको कर्तव्यपथसे विमुख करना चाहती है। असलमें आप जिनसे घृणा करते हैं—उनको छोड़ना नहीं चाहते हैं, उनको छोड़ते आपको दुःख होता है; क्योंकि उनमें आपकी सुदृढ़ आसक्ति है और आप उनको सर्वथा अपने अनुकूल तथा अपने सुखके साधक देखना चाहते हैं। इसीलिये चित्तमें उचाट है, इसीलिये अशान्ति है और

इसीसे आपकी बुद्धि कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो रही है। आप मेरी इन बातोंसे अपनी स्थितिका मिलान करके देखिये, मुझे विश्वास है मेरी धारणा अक्षरशः सत्य साबित होगी।

आप लिखते हैं—'भगवान्‌का भजन नहीं होता' और मैं कहता हूँ—भजन हुए बिना 'वैराग्य' हो ही नहीं सकता।

जब भजनमें रस मिलेगा और उससे भगवत्प्रेमका प्रादुर्भाव होगा तब विषयोंसे वैराग्य आप ही हो जायगा। फिर कोई मनोरथ भी अपूर्ण नहीं रह जायगा। आप जो कुछ भी चाहते हैं, सभी कुछ भगवान्‌में पूर्ण है। सारे सुख, सारा आराम, कामिनी, काञ्चन, कीर्ति, भोग, मोक्ष सभी कुछ उनमें हैं। उनको भूलकर-उनकी ओरसे लापरवाह रहकर, भजनमें चित्त न लगाकर जहाँ संसारको छोड़ने जायँगे, वहाँ संसार और भी जोरसे आपको जकड़ लेगा। यों भागनेसे बन्धनकी रस्सी टूटेगी नहीं, उसकी गाँठ और भी गहरी घुल जायगी, पक्की हो जायगी। अतएव पहले भगवान्‌में अनुराग कीजिये, फिर अपने-आप ही विषयोंमें विराग हो जायगा। श्रीमद्-भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

न भारती मेऽङ्ग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः।
न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः॥

(२।६।३३)

'प्रिय नारदजी! मैंने प्रेमपूर्ण और उत्कण्ठित हृदयसे भगवान्‌को हृदयमें धारण कर लिया है। इससे न तो कभी मेरी वाणी असत्यको लक्ष्य करके निकलती है, न कभी मनकी गति मिथ्याकी

ओर होती है, और न मेरी इन्द्रियाँ ही कभी असत् मार्गपर जाती हैं।' मतलब यह कि भगवान्‌में मन लगनेपर असत् विषयोंकी ओर मन जाता ही नहीं (यह याद रखना चाहिये कि एकमात्र भगवान् ही सत् हैं और सब असत् हैं), यही असली वैराग्य है।

अतएव आप उसे वैराग्य न समझकर अपनी एक दुर्बलता समझिये और घरमें ही प्रतिकूलताको सानन्द सहते हुए भगवान्‌का भजन कीजिये। जबतक मनमें राग-द्वेष है तबतक पूरी अनुकूलता कहीं भी नहीं मिलेगी। भगवान्‌ने कहा है—

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥

(गीता ३ । ३४)

'प्रत्येक इन्द्रियके विषयमें राग और द्वेष भरे हैं। इन राग-द्वेषके वशमें नहीं होना चाहिये। क्योंकि ये दोनों ही परमार्थधनके लुटेरे हैं।'

यह समझ रखिये कि राग-द्वेषके रहते अनुकूलताके साथ प्रतिकूलता भी रहेगी ही। वनमें ही क्यों, कहीं भी चले जायँ—मन तो आपके साथ ही जायगा न; फिर केवल स्थान बदलनेसे क्या होगा। जो तकलीफ यहाँ है, वही वहाँ भी रहेगी। बल्कि नयी जगहमें शारीरिक आराम न मिलनेपर और भी कष्टका अनुभव होगा। घरवाले कितने ही प्रतिकूल हों आखिर आपके दुःखमें कुछ तो साथ देते ही हैं। सेवा भी करते ही हैं। यह आपने भी स्वीकार किया है। अलग जानेपर यह भी नहीं मिलेगा। एक बात यह भी विचारणीय है कि जब आपको उनकी बातें प्रतिकूल मालूम

होती हैं, तब निश्चय ही आपके विचार उनके प्रतिकूल हैं। और जब वे लोग अपने प्रतिकूल विचारवाले आपको अपने साथ रखना सहते हैं और समय-समयपर आपकी सेवा करते हैं तब आपको तो और भी नम्र होना चाहिये तथा उनके प्रतिकूल विचारोंको आनन्दके साथ सहकर उन्हें सुख पहुँचानेकी चेष्टा करनी चाहिये।

साथ ही यह भी सत्य है कि यहाँ जो कुछ भी सुख-दुःख आपको मिलता है यह आपके ही पूर्वकृत कर्मोंका फल है और भगवान्‌ने आपके कल्याणके लिये इसका मङ्गल-विधान किया है। इसके भोगसे आपका प्रारब्ध क्षय होता है, और यदि इसे भगवान्‌का विधान मानकर सिर चढ़ावें तो भगवान्‌की कृपा प्राप्त होती है। इसलिये मेरी तो यही सलाह है कि सहनशील बनकर घरमें रहिये, घरको भगवान्‌का मन्दिर और घरवालोंको भगवत्स्वरूप जानकर उनकी यथायोग्य सेवा कीजिये। तथा श्रीभगवान्‌की कृपापर विश्वास करके उनके पवित्र नामका जप करते हुए उनके दिये हुए जीवनको उन्हींके समर्पण करके आनन्दसे संसार-यात्रा पूरी कीजिये। आप निश्चय समझिये, जब आपको उनकी याद बनी रहने लगेगी तब सारे पाप-सन्ताप, आसक्ति-कामना, विरक्ति-अशान्ति, मोह-भय अपने-आप ही भाग जायँगे। उस समय आप स्वतः ही सच्चे वैराग्यको प्राप्त होकर परम सुखी हो जायँगे।

—✿✿✿—

(२८)

कोई किसीका नहीं है

पत्र मिला। आपने लिखा कि 'क्या कारण है कि एक जीव अच्छे श्रीमान्‌के घरमें जन्म लेकर, जिसको कुछ भी तकलीफ नहीं,

असमयमें ही कालके गालमें चला जाता है। बालक आया था सोने-सा शरीर लेकर। ग्यारह महीने अपनी लीलाएँ दिखायीं, मुझे मुग्ध किया, मातृस्नेहमें डाला। फिर प्रभुने वियोग दिला दिया।' इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक जीव अपने-अपने कर्मके अनुसार जगत्‌में जन्म लेता है और उस जन्मका प्रारब्ध पूरा होते ही कर्मवश ही चला जाता है। इसमें प्रायः किसीका कोई वश नहीं चलता। असलमें यहाँ न कोई किसीका पुत्र है—न माता-पिता हैं। ये सब तो नाटकके स्टेजपर खेलनेके स्वाँगकी भाँति हैं। श्रीमद्भागवतमें राजा चित्रकेतुकी कथा आती है। राजा चित्रकेतुके एकमात्र शिशु राजकुमारकी मृत्यु होनेपर उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे पुत्रशोकके मारे रोते-कल्पते हुए चेतनाहीन-से हो गये। तब महर्षि अङ्गिरा और देवर्षि नारदजी उनके पास आये, उन्होंने समझाते हुए राजासे कहा—'तुम जिस बालकके लिये इतना शोक कर रहे हो, बतलाओ तो वह इस जन्म और इससे पहलेके जन्मोंमें वस्तुतः तुम्हारा कौन था और तुम उसके कौन थे और अगले जन्मोंमें उसके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध रहेगा? जैसे जलके वेगसे धूलके कण कभी परस्पर मिल जाते हैं और कभी बिछुड़ जाते हैं, वैसे ही कालके प्रवाहमें जीवोंका मिलना-बिछुड़ना होता रहता है।…हम, तुम और हमलोगोंके साथ इस जगत्‌में जितने भी शरीरधारी जीव हैं, वे सब इस जन्मके पहले इस रूपमें नहीं थे, और मरनेके बाद भी नहीं रहेंगे। इसीसे सिद्ध है कि इस समय भी उनका वस्तुतः अस्तित्व नहीं है। सत्य वस्तु कभी बदलती नहीं है। ऐसे एक भगवान् ही हैं। वे ही सारे प्राणियोंके स्वामी हैं। उनमें न जन्मका

विकार है न मृत्युका। वे सदा इच्छा-अपेक्षारहित हैं। उन्हींके द्वारा यह प्राणियोंकी रचना, पालन और संहारका खेल होता रहता है।... असलमें अनित्य होनेके कारण ये शरीर असत्य हैं और इसी कारण तिभिन्न अभिमानी भी असत्य हैं। त्रिकालबाधित सत्य तो एकमात्र परमात्मा ही हैं। इसलिये शोक नहीं करना चाहिये।'

इसपर भी जब राजाका शोक पूरी तरहसे दूर नहीं हुआ, तब नारदजीने राजकुमारके जीवात्माको बुलाकर उसे समझाया, तब जीवात्माने कहा—'नारदजी महाराज! मैं अपने कर्मोंके अनुसार देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियोंमें पता नहीं कितने जन्मोंसे भटक रहा हूँ! उनमेंसे ये लोग किस जन्ममें मेरे माँ-बाप हुए। अलग-अलग जन्मोंमें अलग-अलग सम्बन्ध हो जाते हैं। इस जन्ममें जो मित्र है, वही दूसरे जन्ममें शत्रु हो सकता है, इस जन्मका पुत्र अगले जन्ममें पिता हो सकता है। इसी तरह सब परस्पर भाई-बन्धु, शत्रु-मित्र, प्रेमी-द्वेषी, मध्यस्थ-उदासीन बनते रहते हैं। जैसे सोना आदि खरीद-बिक्रीकी चीजें एक व्यापारीसे दूसरे व्यापारीके हाथोंमें आती-जाती रहती हैं, वैसे ही जीव भी कर्मवश भिन्न-भिन्न योनियोंमें उत्पन्न होता रहता है।...जबतक जिसका जिस वस्तुसे सम्बन्ध रहता है तभीतक उसकी उसमें ममता रहती है। जीव गर्भमें आकर जबतक जिस शरीरमें रहता है तभीतक उसको अपना शरीर मानता है। वास्तवमें जो जीव अविनाशी, नित्य, जन्मादिरहित, सर्वाश्रय और स्वयंप्रकाश है।...इसका न कोई प्रिय है, न अप्रिय है, न अपना है, न पराया है। ये राजा-रानी इसके लिये क्यों शोक कर रहे हैं?

इसपर राजा चित्रकेतुको विवेक हो गया। अतएव जीव वास्तवमें अपना नहीं है। जीवोंमें कर्मवश आना-जाना लगा रहता है। भोग पूरे होते ही उसे चले जाना पड़ता है। संयोग-वियोगमें कर्म ही प्रधान कारण हैं। प्रभु तो निरपेक्ष नियन्तामात्र हैं।

—:❀:—

(२९)

सेवा-साधन

सप्रेम हरिस्मरण! आपके पत्रका उत्तर कई दिनों बाद लिख रहा हूँ, क्षमा करेंगे। आपके प्रश्नोंके उत्तर निम्नलिखित हैं—

भगवद्बुद्धिकी सेवा

(१) आपके पास जो कुछ भी है, सब भगवान्‌का है। घर-द्वार, धन-दौलत, कुटुम्ब-परिवार सब भगवान्‌के हैं। आप तो उन सबकी यथायोग्य सेवा और सदुपयोग करनेके लिये भगवान्‌के द्वारा नियुक्त किये हुए मैनेजर हैं। आपने जो उन वस्तुओंको अपनी और अपने भोगसुखके लिये ही मिली हुई मान लिया है, यही आपकी गलती है। आप उनके मालिक कदापि नहीं हैं और न वे सब वस्तुएँ आपके भोगके लिये ही हैं। आप 'गृहस्थी' हैं, यह ठीक है। परन्तु गृहस्थीका अर्थ 'घरके मालिक' नहीं हैं। गृहस्थके माने हैं 'घरके सेवक'। घरमें जितने लोग हैं, वे सब आपके सेव्य हैं। स्वाँगके अनुसार यथायोग्य व्यवहार-बर्ताव करते हुए आप उन सबकी सेवा कीजिये। सेवासे मुँह मोड़िये नहीं और अपना कुछ भी मानिये नहीं। ईमानदार मैनेजर मालिकके कारबारकी

देख-रेख और सार-सँभाल पूरी सावधानीके साथ करता है; परन्तु अपना कुछ भी नहीं मानता। वह वफादारीसे सजग रहकर काम न करे तो नमकहराम होता है और मालिकके धनपर मन चलावे तो बेईमान! इसी तरह आप घरको मालिककी दूकान समझकर उनकी दी हुई उन्हींकी वस्तुओंसे उन्हींके आज्ञानुसार यथायोग्य उन्हींकी सेवा करते रहिये। इस कर्तव्यपालनसे कभी न चूकिये।

धन साथ नहीं जाता, वह यहीं रह जाता है और सच्ची बात तो यह है कि जैसे किसी गड्ढेमें रुका हुआ पानी कुछ ही समयमें गंदा, दुर्गन्धभरा, विषैला और पीनेवालोंके लिये रोगरूपी फल देनेवाला बन जाता है, वैसे ही सदुपयोगसे रहित जमा हुआ धन नाना प्रकारसे दूषित और दोष उत्पन्न करनेवाला बनकर महान् पीड़ा पहुँचानेमें कारण बन जाता है। धनको अपना न मानकर भगवान्के कार्यमें उसका मुक्तहस्तसे उपयोग करना चाहिये। असलमें वह है इसीलिये। इसीलिये वह आपको मिला है। मालिककी चीज मालिकके माँगनेपर भी न देना और अपनी मानकर मोहवश उसे अपने अधीन बनाये रखनेका प्रयत्न करना जैसे अपराध है, वैसे ही भगवान्की वस्तु भगवान्के माँगनेपर ममता और अहङ्कारवश उन्हें न देना भी बड़ा अपराध है। जहाँ जिस वस्तुका अभाव है, वहीं मानो भगवान् उस वस्तुको माँग रहे हैं। भगवान्की इस माँगको ठुकरा देनेवाला भगवान्का चोर होता है। मरनेसे पहले ही या मरते समय वह वस्तु तो उससे छीन ही ली जाती है; क्योंकि वह उसकी थी नहीं, बेईमानी और चोरीके

अपराधके दण्डस्वरूप उसे परलोकमें भीषण दुःख और बुरी-बुरी योनियोंकी प्राप्ति विशेषरूपसे होती है। इसलिये जहाँ गरीबी है, जहाँ दुःख है, जहाँ अन्न-वस्त्र और आश्रयका अभाव है, वहीं आदरपूर्वक भगवान्‌की चीज भगवान्‌के अर्पण करते रहना चाहिये। परन्तु इस अर्पणमें भी अभिमान न आने पावे। जिनकी चीज थी, उनके माँगनेपर उन्हें दे दी इसमें अभिमानकी कौन-सी बात है, यह तो साधारण कर्तव्यमात्र है।

प्रेमभावकी सेवा

(२) अथवा निर्मल प्रेमभावसे तन-मन-धनके द्वारा सबकी सेवा करनी चाहिये। प्रेममें ऊँच-नीचकी भावना न होकर बराबरीका भाव होता है। वरं प्रेमास्पद विशेष आदरका पात्र होता है। माता, पत्नी या मित्र अपनी सन्तान, पति या मित्रकी सेवा करते हैं, उसमें उनके मनमें यही रहती है कि किस प्रकार स्वाभाविक सेवासे हम इन्हें सुख पहुँचा सकें। उनको सुख पहुँचानेमें इनको सुख मिलता है, अन्य कोई उद्देश्य नहीं रहता, और इस सेवाके लिये वे बड़े-से-बड़ा त्याग भी आसानीसे कर डालते हैं। इस त्यागमें उन्हें कभी क्षोभ नहीं होता, वरं आनन्द होता है। और न कर सकनेपर दुःख होता है। प्रेम प्रतिक्षण बढ़नेवाला होता है, 'प्रतिक्षणवर्धमानम्'। (नारदभक्तिसूत्र ५४) इसलिये प्रेमसे की जानेवाली सेवा भी प्रतिपल बढ़ती रहती है। उसमें कभी उकताहट नहीं होती और न ऐसी सेवाकी कोई सीमा ही निर्धारित होती है। जितनी हो उतनी ही थोड़ी। इसमें न उपकारकी भावना है और न बदलेकी। न कभी अहसान बताया जाता है और न मनमें कोई गौरव या अभिमान

ही होता है। इसमें सेव्यको सुखी देखनेपर प्रेमवश स्वाभाविक ही सुख मिलता है, और इसी सुखकी अदम्य अभिलाषाके कारण नित नयी-नयी सेवा की जाती है। इस सेवामें उत्साह और सेवाभाव बढ़ता ही रहता है। इसमें की हुई सेवाकी स्मृति नहीं रहती; क्योंकि यह सेवा उपकाररूप नहीं होती, यह तो आत्मसुख-सम्पादन-की चेष्टामात्र होती है। जैसे अपना भला करके कोई यह नहीं मानता—मैंने किसीका उपकार किया है, इसी प्रकार प्रेमभावसे की हुई पर-सेवामें भी 'स्व'भाव रहनेसे उपकारकी भावना नहीं होती। 'पर' को 'स्व' और 'स्व' को 'पर' बनाकर दोनोंका एकी-करण कर देना प्रेमका ही काम है।

दयावृत्तिकी सेवा

(३) प्रेमभाव न हो तो दयासे सेवा करनी चाहिये। प्रेमकी भाँति दयामें सेवा ग्रहण करनेवालेके प्रति सम्मानका शुद्धभाव सेव्यभाव नहीं रहता, और न बराबरीका भाव ही रहता है। दया उसीपर होती है, जो 'दयाका पात्र' समझा जाता है। इसका यही अर्थ है कि दयावश जिसकी सेवा की जाती है, वह दीन—दया पानेयोग्य है और सेवा करनेवाला दयालु है। संसारमें कोई भी स्वाभिमानी जीव दूसरोंकी दयाका पात्र नहीं बनना चाहता। बाध्य होकर बनना पड़ता है। दया पाया हुआ मनुष्य दब-सा जाता है। उसमें बराबरीके भावसे सिर ऊँचा करनेकी हिम्मत प्रायः नहीं रह जाती। ऐसा करनेपर उसे कृतघ्न या अकृतज्ञ समझे जानेका डर रहता है। यह बात प्रेममें नहीं है। इसीलिये प्रेमका स्तर दयासे कहीं ऊँचा है। इतना होनेपर भी दया बहुत बड़ी

चीज है। दया साधुपुरुषका स्वभाव होता है। जो हृदय बड़े-से-बड़े दुःखमें भी सदा निर्विकार, सम और अचल रहता है वही पराये दुःखको देखकर उससे जलने लग जाता है और तुरंत ही पिघल जाता है। उससे वह दुःख सहन नहीं होता। इसीसे तुलसीदास-जीने कहा है—

संत हृदय नवनीत समाना। कहा कबिन्ह पै कहै न जाना॥
निज परिताप द्रवइ नवनीता। पर दुख द्रवहिं संत सुपुनीता॥

कवियोंने संत-हृदयको मक्खनके समान कोमल बतलाया है; पर असलमें वे संत-हृदयका यथार्थ निरूपण नहीं कर सके। क्योंकि मक्खन तो स्वयं ताप पाकर पिघल जाता है; परन्तु संत अपने तापसे कभी नहीं पिघलते। वे अपने दुःखोंकी जरा भी परवा नहीं करते। महान् पवित्र आत्मा संत तो दूसरोंके तापसे द्रवित होते हैं। पर-दुःख देखकर दयालु पुरुषके हृदयमें दयाका पवित्र आवेश होता है और उस आवेशका इतना प्रभाव होता है कि उस समय उसे यह भी पता नहीं रहता कि यह दुखी पुरुष—जिसके दुःख-को देखकर दयाका आवेश हुआ है अपना है या पराया, मित्र है या शत्रु ! शास्त्रमें कहा है—

परे वा बन्धुवर्गे वा मित्रे द्वेष्टरि वा तथा।
आपन्ने रक्षितव्यं तु दयैषा परिकीर्तिता।

(अत्रिसंहिता)

'पराये हों या अपने, मित्र हों या वैरी, किसीको भी दुःखमें देखकर रक्षा करनेकी जो स्वाभाविक चेष्टा होती है उसीका नाम दया है।'

शुद्ध दयाके भावसे की हुई सेवामें भी अहसान बतानेकी भावना नहीं रह सकती। वहाँ तो दयाकी वृत्तिसे हृदय इतना प्रभावित होता है कि दुखीको दुःखसे बचानेका सक्रिय प्रयत्न किये बिना उसमें शान्ति होती ही नहीं। सारांश यह कि दयालु पुरुष भी दीनोंकी सेवा अपने ही चित्तकी प्रसन्नता और शान्तिके लिये करता है। जहाँ अपने-परायेका भेद है, अपना या अपना मित्र हो तो दुःख दूर करनेकी चेष्टा की जाय, पराया या शत्रु हो तो उसे दुःखमें देखकर भी उपेक्षा की जाय। यह शुद्ध दयाका कार्य नहीं है। शुद्ध दयाको भेदजनित उपेक्षा कभी सहन नहीं होती। आजकल जो उपकार या सेवा-कार्य होता है, वह प्रायः शुद्ध दयाका भी नहीं होता, ईश्वरबुद्धि या प्रेमभावकी तो बात ही दूसरी है। सेवा करके या किसीको देकर तो उसे भूल ही जाना चाहिये। उसकी पहचान भी ठीक नहीं। ऐसी चेष्टा तो कभी होनी ही नहीं चाहिये जिससे आपके द्वारा किसी समय सेवा प्राप्त किये हुए मनुष्यको सकुचाना पड़े, सेवा ग्रहण करनेके लिये पश्चात्ताप करना पड़े, अपने हार्दिक शुभ विचारोंको दबाना या छोड़ना पड़े और बदला उतारनेके लिये चेष्टा करनी पड़े। किसीको कुछ देना हो तो चुपकेसे देना चाहिये, जिसमें दूसरोंके सामने उसको अपमानित न होना पड़े। उसको सदा गुप्त रखना चाहिये। कभी उसके लिये उसपर अहसान नहीं करना चाहिये और न उसपर किसी बातके लिये दबाव डालना या उससे बदला चुकानेकी आशा रखनी चाहिये। भगवान्‌की चीज भगवान्‌के काममें लगी समझकर प्रसन्न होना चाहिये।

अधिक धनसे हानि

(४) अधिक धन कमानेकी चेष्टा भी परमार्थके साधनमें विघ्नरूप ही होती है। धनका मोह मनुष्यकी बुद्धिको अनिश्चयात्मिका बना देता है। खास करके बटोरकर जमा रखनेकी बात तो और भी बुरी है। बहता हुआ धन ही उत्तम पोषक और पवित्र होता है। रुका हुआ तो, जैसे हृदयसे रक्तके सञ्चालनकी क्रिया बंद होनेपर वह दूषित होकर मृत्युका कारण बन जाता है, वैसे ही, पारमार्थिक भावोंके विनाशका ही कारण होता है।

साथ ही यह बात भी ध्यानमें रखनेकी है कि जो कुछ भी धन कमाया जाय, वह न्याय और धर्मके आधारपर ही होना चाहिये। अन्यायका धन तो अपने या पराये, जिसके भी काममें आवेगा, बुद्धिको बिगाड़कर आत्माका पतन ही करनेवाला होगा।

(३०)

भावुकताका प्रयोग भगवान्‌में कीजिये

सादर हरिस्मरण! आपका कृपापत्र मिला। आपके भावुक हृदयमें जो घाव है उसके लिये मुझे हार्दिक समवेदना है। परन्तु उस हृदयने जिस चीजको पकड़ा था वह कितनी नश्वर और परिणाममें दुःखदायिनी थी—इसका आप अनुभव करके भी अनुभव नहीं करना चाहते। इसके बदले आपका यह हृदय यदि श्रीश्याम-सुन्दरकी मनोमोहिनी रूपमाधुरीमें फँस जाता तो कितना आनन्द होता। भावुकता तो भगवान्‌का दिया हुआ एक धन है। उसे यदि नश्वर चीजोंके लिये नष्ट किया जाय तो यह उसका अपव्यय है

होगा। उसे तो भगवत्स्वरूपकी नित्य और निरन्तर बढ़ती ही रहनेवाली माधुरीके आस्वादनमें लगाना चाहिये। यही उसका सदुपयोग है। जिस चीजको खोकर आपका हृदय तड़प रहा है उसकी खालके नीचे क्या था, जरा इसका तो विचार कीजिये। क्या यह ध्यान आनेसे आपको अपनी पसंदगीपर घृणा नहीं होती? आशा है आप अपनी प्रवृत्तिके पीछे न चलकर एक सच्चे परीक्षककी भाँति उसकी असलियतकी परीक्षा करेंगे और जो नष्ट होनेवाली थी और नष्ट हो भी गयी, उस तुच्छ वस्तुका ध्यान छोड़कर उसे भगवान्‌की निरतिशय माधुरीके आस्वादनमें लगायेंगे।

भगवान्‌के रूपमें अनुराग होनेके लिये इस बातकी बहुत आवश्यकता है कि आप यथासम्भव हर समय भगवन्नाम-जप करें। यदि हर समय न कर सकें तो नियमपूर्वक मालाओंकी गणना करते हुए ही करें। इससे मनकी मलिनता दूर होगी, भगवान्‌में अनुराग होगा, आत्माको शान्ति मिलेगी और उसके प्रति आपके हृदयमें जो अवैध अनुराग हुआ था उसका पाप भी निवृत्त होगा।

---

(३१)

पापोंके नाशका उपाय

सप्रेम हरिस्मरण! आपने लिखा कि 'चेष्टा करनेपर भी पापकी वृत्ति नहीं छूटती,—बार-बार पापका भयानक फल भोगनेपर भी वृत्ति न मालूम क्यों पापकी ओर चली जाती है। जिस समय पापवृत्ति होती है, मन काम-क्रोधादिके वशमें होता है, उस समय

मानो कोई बात याद रहती ही नहीं। इसका क्या कारण है, और इस पाप-प्रवृत्तिसे किस प्रकार पिण्ड छूट सकता है, लिखिये।'

आपका प्रश्न बड़ा सुन्दर है। यद्यपि मैं स्वयं सर्वथा निष्पाप नहीं हूँ। इसलिये आपके प्रश्नका उत्तर देनेका अधिकारी तो नहीं, तथापि मित्रभावसे जो कुछ मनमें आता है, लिखता हूँ। जबतक पापकी कोई स्मृति भी होती है, जबतक पापकी बात सुनने-समझनेमें जरा भी मन खिंचता है और जबतक काम-क्रोधका कुछ भी असर चित्तपर हो जाता है तबतक बाहरसे कोई पाप कतई न होनेपर भी मनुष्य अपनेको सर्वथा निष्पाप नहीं कह सकता।

अर्जुनने गीतामें भगवान्‌से पूछा था—'भगवन्! मनुष्य चाहता है कि मैं पाप न करूँ, वह पापसे अपनेको बचानेकी इच्छा करता है, फिर भी उससे पाप हो ही जाते हैं, मानो कोई अंदर बैठा हुआ जबर्दस्ती उसे पापमें लगा रहा हो, बताइये, वह अंदरसे पापके लिये तीव्र प्रेरणा करनेवाला कौन है?' (३।३६)

भगवान्‌ने हँसकर कहा—'दूसरा कोई नहीं है, आत्मशक्तिको भूलकर मनुष्य जो रजोगुणरूप आसक्तिसे उत्पन्न कामनाको मनमें स्थान दे देता है, यह काम ही क्रोध बनता है और यही कभी न तृप्त होनेवाला और महापापी बड़ा वैरी है जो अंदर बैठा हुआ पापके लिये तीव्र प्रेरणा करता है। जैसे धूएंसे आग और मलसे दर्पण ढक जाता है, और जैसे जेरसे गर्भ ढका रहता है वैसे ही इस 'काम' से ज्ञान ढका रहता है। यह सदा अतृप्त रहनेवाला काम ही ज्ञानियोंका नित्य शत्रु है। यही इन्द्रिय, मन, बुद्धि सबमें अपना प्रभाव विस्तार

करके-सबको अपना निवास-स्थान बनाकर इन्हींके द्वारा ज्ञानपर पर्दा डलवाकर जीवको मोहमें डाले रखता है। इसीसे सारे पाप होते हैं।' (गीता ३ । ३७-४०)

यह ज्ञान-विज्ञानको नाश करनेवाला 'काम' रहता है इन्द्रियोंमें, मनमें और बुद्धिमें। इन्द्रियोंमें होकर ही यह मन-बुद्धिमें जाता है। इसलिये सबसे पहले इन्द्रियोंको वशमें करना चाहिये। इन्द्रियाँ यदि कामको अपने अंदरसे निकाल देंगी तो काम जरूर मर जायगा। (गीता ३ । ४१)

परन्तु कठिनता तो यह है कि हमलोगोंने अपनेको इतना दुर्बल मान रक्खा है कि मानो इन्द्रियोंको विषयोंसे रोकना हमारे लिये कोई असम्भव व्यापार है। याद रखिये, पाप वहींतक होंगे, इन्द्रियाँ वहींतक बुरे विषयोंको ग्रहण करेंगी, मनमें वहींतक कुविचारोंके संकल्प-विकल्प होंगे, और बुद्धि वहींतक 'कु' के लिये अनुमति देगी, जहाँतक आत्मा न जाग उठे। भगवान् कहते हैं—

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः॥
एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्॥
(गीता ३ । ४२-४३)

'इन्द्रियाँ (स्थूल शरीरसे) श्रेष्ठ हैं, इन्द्रियोंसे मन श्रेष्ठ है, मनसे श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धिसे अत्यन्त श्रेष्ठ है, वह आत्मा है। इस प्रकार आत्माको बुद्धिसे परे-सबका स्वामी, परम शक्तिसम्पन्न और सबसे श्रेष्ठ जानकर बुद्धिको अपने वश करो और

बुद्धिके द्वारा मनको और मनके द्वारा इन्द्रियोंको वश करके हे महाबाहो ! (बड़े बलवान् वीर !) कामरूपी दुर्जय शत्रुको मार डालो।'

काम-शत्रु मारा गया कि पापोंकी जड़ ही कट गयी। और यह करना आपके हाथ है। बिना आत्माकी अनुमतिके पाप नहीं हो सकते। आत्मा अपनेको कमजोर मानकर बुद्धिपर सब छोड़ देता है, बुद्धि मनपर और मन इन्द्रियोंपर निर्भर करने लगता है। इन्द्रियाँ अंधे घोड़ोंकी तरह जब निरंकुश होकर विषयोंकी ओर दौड़ती हैं, तब मनरूपी लगाम, बुद्धिरूपी सारथी और आत्मारूपी रथी शरीररूपी रथके साथ ही उनके साथ खिंचे चले जाते हैं, और पापरूपी महान् गड्हेमें पड़कर या पहाड़से टकराकर बहुत दिनोंके लिये बेकाम हो जाते हैं और पड़े-पड़े नाना प्रकारके दुःख भोगते हैं। इन सब दुःखोंसे छुटकारा अभी हो सकता है यदि भ्रमवश अपनेको कमजोर मानकर बुद्धि-मन-इन्द्रियोंके वश हुआ आत्मा इस मिथ्या पराधीनताकी बेड़ीको तोड़कर इनका स्वामी बन जाय और इन्हें जरा भी कुमार्गमें न जाने दे। बलपूर्वक रोक दे। आत्मामें यह अजेय शक्ति है। आत्माकी जागृति होनेपर उसकी एक ही हुंकारसे यह काम हो सकता है।

आप यह निश्चय समझिये-आप सर्वशक्तिमान् आत्मा हैं, आपमें बड़ा बल है। संसारके किसी भी पाप-तापकी शैतानी शक्तियाँ आपका सामना नहीं कर सकतीं। आप अपने स्वरूपको भूले हुए हैं, इसीसे अकारण दुःख पा रहे हैं। राजराजेश्वर होते हुए ही

गुलामीकी जंजीरमें अपनी ही भूलसे बँध रहे हैं। इस बेड़ीको तोड़ डालिये। फिर पापवृत्ति आपके मनमें आवेगी ही नहीं। आत्मामें नित्य ऐसा निश्चय कीजिये—'काम-क्रोध मेरे मनमें नहीं रह सकते, मेरे मनमें प्रवेश नहीं कर सकते। मेरे मनके समीप भी नहीं आ सकते। पाप मेरे समीप आते ही जल जायँगे। मैं शुद्ध हूँ, निष्पाप हूँ, अपार शक्तिशाली हूँ। पापोंकी और पापोंके बाप कामकी ताकत नहीं जो यहाँ आ सकें।' आप विश्वास कीजिये यदि आपका निश्चय पक्का होगा तो आप काम-क्रोधसे और पापोंसे सहज ही छूट जायँगे। रोज प्रातःकाल और सायंकाल एकान्तमें बैठकर ऐसा निश्चय कीजिये 'मैं शरीर नहीं हूँ, इन्द्रियाँ नहीं हूँ, मन नहीं हूँ, बुद्धि नहीं हूँ, निर्विकार विशुद्ध आत्मा हूँ। मुझमें काम, क्रोध, लोभ, मोह और उनसे होनेवाले कोई पाप हैं ही नहीं। अब मैं इनको कभी अपने समीप नहीं आने दूँगा, नहीं आने दूँगा, नहीं आने दूँगा। ये मेरे पास आ ही नहीं सकते!'

हो सके तो निम्नलिखित पाँच बातोंपर ध्यान रखिये। आपके पाप सहज ही मिट जायँगे।

१–आत्मशक्तिसे रोज आत्मामें निश्चय कीजिये कि काम-क्रोध और पाप मेरे समीप नहीं आ सकते।

२–रोज ऐसा निश्चय कीजिये कि आत्माके आत्मा सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वर परमात्मा नित्य मेरे साथ हैं। उनकी उपस्थितिमें पाप-ताप मेरे समीप आ ही नहीं सकते और परमात्माको नित्य अपने साथ अनुभव कीजिये।

३–भगवान्‌के नामका जाप कीजिये और ऐसा निश्चय कीजिये कि जिसके मुखसे एक बार भी भगवन्नाम आ जाता है, उसके सारे पाप जड़से नष्ट हो जाते हैं। मैं भगवान्‌का नाम लेता हूँ। अतः मुझमें न तो पाप रह सकते हैं और न मेरे समीप ही आ सकते हैं।

४–नित्य स्वाध्याय–सद्ग्रन्थोंका अध्ययन कीजिये और आत्म-शक्तिसम्पन्न तथा भगवान्‌के विश्वासी और प्रेमी दैवीसम्पदावाले पुरुषोंके जीवनचरित्र पढ़िये और उनके उपदेशोंका मनन कीजिये।

५–किसी भी इन्द्रियसे, मनसे या बुद्धिसे किसी प्रकारसे भी कुसङ्ग जरा भी न कीजिये। इन्द्रिय, मन, बुद्धिको अवकाश ही न दीजिये जिसमें वे सत्‌को छोड़कर 'सु' को त्यागकर कभी 'असत्' या 'कु' का स्मरण भी कर सकें—कामकी ओर ताक भी सकें।

(३२)

विपत्तिनाशका उपाय

भगवान्‌का भेजा हुआ जैसा भी समय आवे, सिर चढ़ाकर भगवान्‌को याद करते हुए हिम्मत तथा सन्तोषके साथ उसे निभाना चाहिये। विपत्तिमें घबरानेसे विपत्ति बढ़ती है। विपत्तिकी परवा न करके भगवान्‌की कृपाके भरोसे अध्यवसाय करनेसे विपत्ति नष्ट हो जाती है। भविष्यको निराशामय देखना तो भगवान्‌पर अविश्वास करना है। इसलिये बहुत प्रसन्न रहिये। भगवान्‌की कृपापर विश्वास रखिये।

—:०:—

दोषनाशके उपाय

आपका लंबा पत्र मिला। आपने 'काम' और 'मान' इन दो दोषोंकी बात लिखी, सो मेरी समझमें ये दोष आपमें ही नहीं, न्यूनाधिकरूपमें अधिकांश लोगोंमें रहते हैं। वेष-भूषा तो बहुत मोटी बात है; भजन, कीर्तन, ध्यान, वैराग्यका स्वाँग, वेष-भूषाका त्याग और अन्य भाँति-भाँतिके त्याग भी कहीं-कहीं 'काम' और 'मान' के लिये ही होते हैं। स्त्रियाँ समझें—ये बड़े भक्त हैं, महात्मा हैं, त्यागी हैं और हमारी ओर आकर्षित हों; लोग समझें ये वैराग्यवान्, ध्यानके अभ्यासी सत्पुरुष हैं और हमें सम्मान प्राप्त हो; इसलिये शुभ चेष्टाएँ की जाती हैं। फिर स्त्रीको देखनेपर, मनमें विकार होनेमें और मान न मिलनेपर विषाद होनेमें कौन बड़ी बात है? इसका कारण है—विषयासक्ति। मनुष्य बहुत ही कम समय अपने चित्तको वस्तुतः भगवच्चिन्तनमें लगाता है। उसका अधिकांश समय केवल विषयचिन्तनमें जाता है। जैसा चिन्तन होता है वैसे ही पदार्थोंसे वह घिर जाता है। विषय-चिन्तन ही अशुभचिन्तन है; इसीसे उसकी अशुभमें आसक्ति उत्पन्न होती और दृढ़तर होती जाती है। अशुभचिन्तनके समान मनुष्यका पतन करनेवाला और शत्रु नहीं है। इसीसे सारे दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव मनुष्यको निरन्तर बड़ी सावधानीके साथ ऐसी चेष्टा करनी चाहिये जिसमें मन भगवच्चिन्तनके अभ्यासमें लगे। इसके लिये दृढ़ निश्चय और लगनकी आवश्यकता है। भगवत्कृपापर विश्वास और आत्मशक्तिका दृढ़ निश्चय हो जानेपर कोई भी बाधा टिक नहीं सकती। लोग विषयचिन्तन करते हैं,

मनमें विषयोंके प्रति आसक्ति है और यह निश्चय नहीं है कि भगवान्‌की अनन्त शक्ति सदा हमारी रक्षा करनेके लिये हमारे साथ मौजूद है। इसीसे वे काम, क्रोध और मानादि शत्रुओंके सामने आने-पर उनके वश हो जाते हैं और उनसे हारकर पतनके गड्ढेमें गिर जाते हैं। हार पहले ही माने हुए हैं—क्योंकि मनमें दृढ़ निश्चय नहीं है। भगवान्‌की रक्षा करनेवाली चिरसङ्गिनी आत्मशक्तिपर विश्वास नहीं है। आत्मशक्तिपर विश्वास हो और यह दृढ़ धारणा हो कि यह आत्मशक्ति भगवान्‌की है-हमारी बुद्धि, हमारे मन, प्राण, इन्द्रियां सब आत्मशक्तिके द्वारा भगवान्‌के साथ सम्बन्धित हैं—भगवान् ही इनके स्वामी हैं और भगवान्‌के अनन्त शक्तिमान् होनेसे उनकी यह शक्ति भी अनन्त शक्तिमती है, तो फिर कभी, काम, मानादि आक्रमण न कर सकें—वे दूरसे ही भाग जायँ, चित्तमें तो कभी प्रवेश करें ही नहीं। यह स्मरण रखना चाहिये कि जो वस्तु भगवान्‌के समर्पित हो गयी, वह सुरक्षित हो गयी। उसको भगवान् ही दूसरे रूपमें बदलना चाहें तो भले ही बदल दें—किसी अन्य शक्तिकी ताकत नहीं कि उसकी ओर देख भी सके। अम्बरीषका देह भी भगवान्‌के अर्पण था, इससे दुर्वासाकी क्रोधाग्नि उसका कुछ भी न बिगाड़ सकी। घोररूपा कृत्याके सामने अम्बरीष स्थिर खड़े रहे—न पीछे हटे, न बचनेकी कोशिश की, न उसपर कोई प्रहार ही किया। भगवान्‌की शक्तिने अपने-आप कृत्याका काम समाप्त कर दिया। भगवान्‌की शक्ति सुदर्शनके रूपमें पहले ही अम्बरीषके देहकी रक्षाके लिये नियुक्त थी। इसीलिये थी कि अम्बरीषने उसको पहलेसे ही भगवान्‌की सम्पत्ति बना दिया था। मेरी समझसे दोषोंसे बचनेका एक प्रधान

उपाय यह भी है कि जिन अङ्गोंमें ये दोष आते हैं, उन्हें भगवान्के अर्पण कर दिया जाय और उनके द्वारा भगवान्की ही सेवा की जाय। अपने प्रयत्नमें त्रुटि न हो और अपनी ईमानदारीमें—अर्पणकी इच्छामें त्रुटि न हो। फिर जो कमी होगी उसे भगवान् अपनी शक्तिसे आप ही पूरा कर लेंगे। और जो चीज भगवान्की हो जायगी, उसकी रक्षा पाप-तापसे वे आप ही करेंगे। अथवा भगवान्पर निर्भर किया जाय-पूरे भरोसेके साथ। यह निश्चित बात है कि यदि हमारी निर्भरता सच्ची होगी तो भगवान्की सहायता हमें ठीक वक्तपर, ऐन मौकेपर अवश्य ही प्राप्त होगी। हाँ प्राप्त होगी उसी अनुपातसे, जिस अनुपातमें हमारी निर्भरता होगी। सच्ची बात तो यही है। आप इतना काम कीजिये—

१–यथासाध्य चेष्टा कीजिये कि अधिक-से-अधिक समयतक चित्तके द्वारा भगवच्चिन्तन हो।

२–भगवान्की कृपापर भरोसा बढ़ाइये।

३–मनमें यह दृढ़ निश्चय कीजिये कि भगवान् सदा अपनी पूरी शक्तिके सहित मेरे साथ हैं। मुझपर कामादिके आक्रमण नहीं हो सकते। यदि कभी ये दोष सामने आवेंगे तो निश्चय ही भगवान्की शक्तिसे मारे जायँगे।

४–मन, बुद्धि, इन्द्रिय, अहङ्कार आदि सभीको प्रतिक्षण सावधानीके साथ भगवान्के अर्पण करते रहिये—जिस समय वे सच्ची पूरी बात देखेंगे, उसी क्षण इनको ग्रहण कर लेंगे।

५–भगवान्की कृपापर निर्भर होनेका अभ्यास कीजिये।

ये पाँच बातें कीजिये, फिर देखिये कितनी जल्दी इन दोषोंका नाश होता है। और भी उपाय हैं--

आत्मशक्तिके द्वारा पूरा निश्चय–दृढ़ संकल्प कर लिया जाय कि ये दोष मुझमें नहीं आ सकते, तो फिर कम आवेंगे। आवें तब आत्माके द्वारा उनका तिरस्कार–अपमान किया जाय, उनपर तीव्र प्रहार किये जायँ, उन्हें एक क्षणके लिये भी सुखसे न टिकने दिया जाय, तो वे आना छोड़ देंगे। दूरसे सताना भी छोड़ देंगे। आत्माकी मूक अनुमतिसे ही पाप होते हैं, जो आत्माकी कल्पित दुर्बलता और दृढ़ अध्यवसायके अभावसे इन्हें मिलती रहती है। यदि आत्मा बलपूर्वक पापोंको रोकना चाहे तो पाप नहीं आ सकते।

आपसे हो सके तो एक उपाय बहुत उत्तम है--प्रतिज्ञा कर लीजिये प्रतिक्षण लगातार नामजपकी। नाम-जपका तार यदि जाग्रत्-अवस्थामें कभी नहीं टूटेगा तो निश्चय ही ये सब पाप मर जायँगे। यह महात्माओंका अनुभूत सरल प्रयोग है।

आपने लिखा कि 'मैं कई बार सुन चुका हूँ, परन्तु दोष छूटते ही नहीं--इस बार ऐसा बल दीजिये जिससे मैं इन्हें फटकार बतला सकूँ।' इसका उत्तर यह है—वस्तुतः कई बार सुननेसे कुछ विशेष लाभ नहीं होता। कहनेवाला यदि हृदयसे कहता हो अर्थात् जो बात वह कहता हो वह उसके द्वारा अनुभूत, आचरित और सत्य हो, एवं सुननेवाला भी हृदयसे सुनता हो–उसके चित्तमें पूर्ण श्रद्धा हो और उसी प्रकार करनेका दृढ़ संकल्प हो और सुनते ही वैसा ही करने लगे तो एक ही बारके सुननेसे काम हो जाता है।

हम सुनते हैं मुर्दा वाणीको—मुर्दा मनसे, इसीसे इसका कोई असर नहीं होता। बल्कि अधिक सुनते-सुनते मन और कान बहरे हो जाते हैं। सुनना चाहिये जीवित मनसे और कहना भी चाहिये जीवित मनसे। जीवित मन वही है जिसके साथ परम श्रद्धा है और सत्यरूपसे आत्माके दृढ़ अध्यवसायका संकल्प है और जिसके करनेके लिये प्राण आतुर हैं।

रही मेरे बल देनेकी बात सो.................................

मेरे पास एक ही बल है—'हारेको हरिनाम' और आपसे भी यही कहता हूँ, उसका आश्रय लीजिये। सारे पाप-तापोंसे छुड़ानेमें वह पूरा समर्थ है। अधिक क्या लिखूँ ?

---
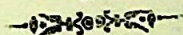
(३४)

दुःखनाशके साधन

प्रेमसहित राम-राम, तुम्हारा पत्र मिले बहुत दिन हो गये। मैं समयपर उत्तर नहीं दे सका, इसका मुझे स्वयं बड़ा खेद है। तुम कभी यह न समझना कि तुम्हारी 'वर्तमान स्थिति' मुझसे कोई लापरवाही करवा रही है। प्रेमकी पवित्र भावनापर किसी बाह्य स्थितिका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। धन-सम्पत्ति, रूप-गुण, मान-प्रतिष्ठा आदिकी न्यूनाधिकताको लेकर जिस प्रेममें घटा-बढ़ी होती है, वह तो प्रेमका अति बाह्य विकृत रूप है। यथार्थमें वह प्रेम ही नहीं है। धन-मानके कारण जो प्रेम होता है, वह तो एक प्रकारका स्वार्थ-साधनमात्र है। अपने पास धन न रहे या अपना कहीं अत्यन्त अपमान हो जाय तो क्या कोई अपने प्रति प्रेम कम

कर देता है ? जहाँ आत्मभाव है वहीं वास्तविक प्रेम है, और उस प्रेममें किसी अवस्थाविशेषसे कोई रूपान्तर हो नहीं सकता। जो अपना है, वह तो अपना ही है, चाहे वह कितना ही दरिद्र और अपमानित क्यों न हो। सत्पुरुष तो यह कहते हैं कि विपत्तिकालमें सौगुने प्रेमका व्यवहार होना चाहिये—'बिपतिकाल कर सतगुन नेहा।'

यह सत्य है कि प्रेमका स्वरूप जो कुछ मैंने लिखा है, वही यथार्थ नहीं है; प्रेम तो अनिर्वचनीय है और अनुभवस्वरूप है। भगवान्‌की कृपासे ही उसकी प्राप्ति होती है। अपने मनमें प्रेमके जिस स्वरूपकी कल्पना होती है, वह भी कहने और लिखनेसे परेकी चीज है, और जो कुछ लिखा जाता है, उतना भी वस्तुतः पालन नहीं किया जाता। इसलिये यही कहना पड़ता है कि मैं प्रेमकी केवल बातें ही बनाता हूँ, हूँ उससे बहुत दूर। इतनेपर भी तुम्हारे प्रति मेरे मनमें जैसे कुछ भाव हैं, उनको देखते यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि तुम्हारी वर्तमान स्थितिने मुझको तुम्हारी ओर अधिक खींचा है, दूर नहीं किया। तथापि यह तो मेरी भूल ही है कि मैंने महीनोंतक तुम्हारे पत्रका उत्तर नहीं दिया। मेरी इस भूलके कारण तुम्हारे मनमें सन्देहकी छाया दीख पड़े तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरा यह कसूर है और इसके लिये मैं कम पश्चात्ताप नहीं कर रहा हूँ।

सचमुच लौकिक दृष्टिसे तुम्हारी अवस्था बड़ी शोचनीय है। कुछ ही दिनों पहले जो सब ओरसे सम्मान और इज्जत पाता रहा हो, अभावका अनुभव होते ही अभावको मिटा देनेवाली

वस्तुएँ सहज ही जिसके सामने आ जाती हों, तथा धन-मान और आराममें ही जिसकी जिंदगी कटी हो,—कुछ ही दिनों बाद उसका अपमानित, अभावपीड़ित और समाजमें लाञ्छित होना उसे कैसी भयानक व्यथा देनेवाला होता है, इसे भुक्तभोगी ही जानता है। जिसकी ऐसी अवस्था कभी नहीं हुई वह तो इसका अनुमान ही नहीं कर सकता।

परन्तु भैया! यह सारी व्यथा है मोहजनित ही। तुम जो पहले थे, वही अब हो और वही आगे भी रहोगे। मनुष्य मोहवश कुछ वस्तुओंमें और स्थितियोंमें ममत्व कर बैठता है, और ममत्वकी वे चीजें और स्थितियाँ जब दूर हट जाती हैं, तब वह दुखी होता है। संसारके इन अनित्य पदार्थोंमें यदि मनुष्य ममत्वका आरोप न करे तो इनके आने-जानेमें उसे हर्ष और शोकके विकारसे सहज ही छुटकारा मिल जाय।

कुछ ऐसी चीजें थीं, ऐसी अवस्थाएँ थीं—जिनको तुमने अपनी मान लिया था, आज वे तुम्हारे अधिकारमें नहीं हैं, इसीसे तुम अपनेको दुखी मान रहे हो। दुखी उस समय भी थे, क्योंकि उस समय तुम्हें नित्य नये-नये अभावोंका अनुभव हुआ करता था, और तुम उन्हींकी पूर्तिमें सदा व्यस्त रहते थे। अवश्य ही उन अभावोंका स्वरूप आजके अभावों-जैसा न था—दूसरा था।

संसार तो दुःखालय है ही। इसमें एक आनन्दस्वरूप भगवान्‌को छोड़कर और कहाँ सुख है? धनी हो या गरीब, सम्मानित हो या अपमानित, जबतक उसके जीवनकी गति भगवान्‌की ओर नहीं

होती, तबतक किसी भी अवस्थामें उसे सुख नहीं मिल सकता, वह जलता ही रहता है। दुःखकी यन्त्रणामयी ज्वालासे बचनेका एक ही उपाय है—'भगवान्‌की ओर जीवनको मोड़ देना।' मनुष्य इसे तो करता नहीं, और कर्मोंकी नयी-नयी गाँठें बाँधकर पुरानी गाँठोंको सुलझाना और खोलना चाहता है, फलतः और भी बँध जाता है।

रही धननाश और अपमानादिकी बात, सो ये तो हमारे ही पूर्वकृत कर्मोंके फल हैं, जो हमें कर्मबन्धनसे मुक्त करनेके लिये आते हैं। इस दृष्टिसे भी दुःख न मानकर सुख ही मानना चाहिये।

कर्मफलका समस्त विधान दयामय भगवान्‌के द्वारा होता है, उनका कोई भी विधान अमङ्गलकारी हो नहीं सकता, इस दृष्टिसे भी हमें धननाश और अपमानादिकी अवस्थामें दुखी न होकर सुखी होना चाहिये।

भगवान् हमारे परम सुहृद् हैं, परम प्रियतम हैं और हमारी सारी व्यवस्थाको जानकर हमारे मङ्गलके लिये ही उचित व्यवस्था करते हैं। इसीमें उन्हें आनन्द मिलता है। हमारा मङ्गल हो और उन्हें आनन्द मिले, इससे अधिक सुखकी बात क्या हो सकती है। इस दृष्टिसे भी हमें सुखी ही होना चाहिये।

जगत्‌के निमित्त और उपादान-कारण भगवान् ही हैं। यह सारा जगत् उन्हींमें और उन्हींसे स्थित, निर्मित और सञ्चालित है। प्रत्येक विधानमें आत्मगोपन करके वस्तुतः वे विधाता ही प्रकट हैं। अतएव हमें प्रत्येक स्थितिमें उनके दर्शन पाकर, उनका स्पर्श पाकर, उनमें मिलकर सुखी होना चाहिये।

यह सब कुछ भगवान्‌की मङ्गलमयी लीला है, जो एक अखण्ड, सनातन, दिव्य भगवदीय नियमके अनुसार नित्य होती रहती है। यह अनादि है, अनन्त है और पहलेसे ही भलीभाँति रची हुई है। इसमें कोई बात अनहोनी नहीं, अनियमित नहीं और बेठीक नहीं। सब ठीक, सब नियमित, सब कल्याणमयी और सब अवश्यम्भावी है। होता वही है जो पहलेसे उनका रचा हुआ है—'होइहैं सोइ जो राम रचि राखा।' फिल्ममें सब कुछ पहलेसे ही अङ्कित है; बस, सामने आना है। जो सामने आवे, वही ठीक है। उसीमें भगवान्‌की मधुर लीलाके दर्शन कर सुखी होना चाहिये।

वेदान्तवाले तो जगत्‌को असत्—रज्जुसर्पवत्, आकाशकुसुमवत् और स्वप्नवत् मिथ्या ही मानते हैं। मिथ्यामें दुःख कैसा? इस दृष्टिसे भी अज्ञानसे दीखनेवाले जगत्‌को वस्तुतः सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममय देखकर सुखी ही होना चाहिये।

यदि तुम भलीभाँति विचार करो, आजतकके इतिहासपर ध्यान दो तथा साथ ही पारमार्थिक दृष्टिसे देखो तो तुम्हें पता लगेगा कि धन और मानादिमें वस्तुतः सुख-शान्ति और कल्याण है ही नहीं। यहाँ मैं पद्मपुराणसे प्रसिद्ध महर्षियोंके कुछ वचन उद्धृत कर रहा हूँ, इनसे तुम अच्छी तरह इस विषयको समझ सकोगे—

अकिञ्चनत्वं राज्यं च तुलया समतोलयत्।
अकिञ्चनत्वमधिकं राज्यादपि हितात्मनः॥
(वशिष्ठ)

'अकिञ्चनता और राज्य दोनों काँटेपर रखकर तौले गये थे (परमज्ञानी महर्षियोंने दोनोंके परिणामपर विचार करके निश्चय

किया था) तो यही पता लगा था कि अपना हित चाहनेवाले मनुष्यके लिये राज्यकी अपेक्षा अकिञ्चनता (धनका सर्वथा अभाव) ही श्रेष्ठ है।'

अर्थसम्पद्विमोहाय विमोहो नरकाय च।
तस्मादर्थमनर्थाख्यं श्रेयोऽर्थी दूरतस्त्यजेत्॥
यस्य धर्मार्थमर्थेहा तस्यानीहा गरीयसी।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

(कश्यप)

'अर्थ-सम्पत्ति विशेषरूपसे मोहका कारण है और विमोहसे नरककी प्राप्ति होती है। इसलिये कल्याण चाहनेवाले मनुष्यको इस अनर्थरूप अर्थका दूरसे ही त्याग कर देना चाहिये। जो धर्मके लिये अर्थकी इच्छा करता है, उसके लिये भी अनिच्छा ही श्रेष्ठ है। कीचड़ लपेटकर उसे धोनेकी अपेक्षा दूर रहकर उसे न छूना ही अच्छा है।'

इहैवेदं वसु प्रीत्यै प्रेत्य वै कुण्ठितोदयम्।
तस्मान्न ग्राह्यमेवैतत्सुखमानन्त्यमिच्छता॥

(अत्रि)

'धन यहीं अच्छा लगता है, परलोकमें तो यह उन्नतिमें प्रतिबन्धक है, इसलिये अनन्त सुख चाहनेवाले पुरुषके लिये यह किसी प्रकार भी ग्रहण करने योग्य नहीं है।'

अनन्तपारा दुष्पूरा तृष्णा दुःखशतावहा।
अधर्मबहुला चैव तस्मात्तां परिवर्जयेत्॥

(भरद्वाज)

'(धन-मानकी) तृष्णाका पार नहीं है और उसका पूरा होना भी दुःसाध्य है। तृष्णामें सैकड़ों दुःख हैं और वह बहुत-से अधर्मोंसे युक्त है। इसलिये तृष्णाका त्याग ही करना चाहिये।'

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
कामानभिलषन्मोहान्न नरः सुखमेधते।
श्येनालयतरुच्छायां व्रजन्निव कपिञ्जलः॥
चतुःसागरपर्यन्तां यो भुङ्क्ते पृथिवीमिमाम्।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः॥

(विश्वामित्र)

'विषयोंके भोगसे कामनाकी शान्ति कदापि नहीं होती। आगमें घीकी आहुति देनेपर जैसे वह एक बार बुझती-सी दीखती है परन्तु तुरन्त ही बढ़ जाती है, इसी प्रकार विषय-भोगसे कामना बढ़ जाती है। मोहवश भोगोंकी कामना करनेवाला मनुष्य कभी सुख नहीं पा सकता, उसकी वैसी ही दशा होती है जैसी बाजके घोंसलेवाले पेड़की छायामें जानेवाले कपिञ्जल पक्षीकी होती है। (इसलिये अनर्थमयी अर्थकी इच्छा न रखकर सन्तोष करना चाहिये) एक मनुष्य, जो चारों समुद्रोंतककी पृथ्वीके राज्यका उपभोग करता है तथा दूसरा जो सुवर्ण और पत्थरको समान दृष्टिसे देखता है— इन दोनोंमें दूसरा (सोने और पत्थरको समान समझनेवाला) ही कृतार्थ होता है; विशाल भूमण्डलका स्वामी राजा नहीं।'

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

असन्तोषः परं दुःखं सन्तोषः परमं सुखम्।
सुखार्थी पुरुषस्तस्मात्सन्तुष्टः सततं भवेत्॥
(गौतम)

'सन्तोषरूपी अमृतके पानसे तृप्त शान्तचित्त पुरुषोंको जो सुख है, धनके लोभसे इधर-उधर दौड़नेवालोंके नसीबमें वह सुख कहाँ है? असन्तोष ही परम दुःख है और सन्तोष ही परम सुख है। इसलिये सुख चाहनेवाले पुरुषको (भगवान्की दी हुई प्रत्येक स्थितिमें) सदा सन्तुष्ट रहना चाहिये।'

अब रही अपमानकी बात, सो इसके सम्बन्धमें कहा है—

अपमानात्तपोवृद्धिः सम्मानाच्च तपःक्षयः।
अर्चितः पूजितो विप्रोऽदुग्धा गौरिव गच्छति॥
अमृतस्येव तृप्येत अपमानस्य योगवित्।
विषवच्च जुगुप्सेत सम्मानस्य सदा नरः॥

'अपमानसे तपकी वृद्धि और सम्मानसे तपका क्षय होता है। जिसका दूध निकाल लिया गया है, उस गायकी तरह वह अर्चा-पूजा करानेवाला (बहुत बड़े मानको प्राप्त) विप्र भी निस्सार होकर ही चला जाता है। योगवित् पुरुषको अपमानसे अमृतपानकी तरह तृप्त होना चाहिये; और सम्मानको विषके समान हेय समझना चाहिये।'

धन और मानकी वृद्धिसे मनुष्यमें प्रायः असंयम, दर्प, अभिमान, क्रोध, लोभ, हिंसा, भोगपरायणता, कुसङ्गति, असूया और अविवेक आदि दोष बढ़ जाते हैं। धन और मानके अभावमें इन दोषोंका ह्रास होता है। सच्ची बात कड़वी तो लगती है, परन्तु प्रसङ्ग आ पड़नेपर कहे बिना काम नहीं चलता। बात यह है कि

धन और मानके अभावमें ही जीवका कल्याण है, इनकी प्राप्ति और वृद्धिमें नहीं। बुरा न मानना भैया! मुझे तो सूर्यके प्रकाश-की-ज्यों यह स्पष्ट दीख पड़ता है कि श्रीभगवान्‌ने बड़ी कृपा करके तुमको यह स्थिति दान की है। निश्चय ही परिणाममें यह तुम्हारा कल्याण करनेवाली होगी। यदि तुम अभी इस बातका अनुभव कर सको तो तुम्हारे सब दुःख आज ही दूर हो सकते हैं।

'नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं', 'सबसे कठिन जाति अपमाना' आदि वाक्य परमार्थदृष्टिवाले पुरुषके लिये नहीं हैं। भगवान्‌के दिये हुए दारिद्र्य और अपमानको सिर चढ़ाकर अम्लान मनसे इन्हें स्वीकार करना चाहिये। यदि ये हमारे मोहको भंग कर दें और हमें भगवान्‌की ओर मोड़ दें तो इनसे अधिक हमारा हितकारी और कौन होगा? भैया! अपनी इस स्थितिमें श्रीभगवान्‌की कृपाका प्रत्यक्ष अनुभव करो। व्यर्थके आराम और भोगोंको भूल जाओ। धीर पुरुष तो अपने जीवनके उद्देश्यकी सिद्धिके लिये तपरूपमें विपत्तियोंको बुलाया करते हैं और सहर्ष उनका स्वागत और स्वीकार कर उन्हें चिपटाये रखते हैं। ध्रुवने भीषण तप किया था। पार्वतीने शिवकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या की थी। हजारों उदाहरण हैं। अभी हालमें महाराणाप्रताप राज्य-सुखको त्याग कर अपने व्रतपालनके लिये सुकुमार बाल-बच्चोंको साथ लिये, वन-वन भटके और पहाड़ोंकी गुफाओंमें रहे थे।

'लोग सम्मान करते थे, अब नहीं करते; धनसे अमुक-अमुक आराम थे, अब नहीं हैं। खाने-पीनेको बढ़िया पदार्थ और रहनेको

सुन्दर स्थान मिलते थे, अब वैसे नहीं मिलते हैं; बहुत लोग मिलने-को आते थे, अब कोई बोलना भी नहीं चाहता; देखते ही सब मुँह मोड़ लेते हैं।' यही तो दुःखका रूप है। विचार करके देखो—इसमें कल्पनाके सिवा और कहाँ दुःख है? दुःखकी कल्पनाको दूर करके—उसके स्थानमें भगवत्कृपाजनित कल्याणको कल्पना करो। भगवान्‌ने ही तुमको यह त्यागपूर्ण अकिञ्चन स्थिति प्रदान की है। तुम सारे झंझटोंसे मुक्त हो गये! बड़ा बोझा उतर गया तुम्हारे सिरसे। चेष्टा करनेपर भी एकान्त मिलना मुश्किल था। अपने आप ही सब प्रपञ्च मिट गये। अब बस, निष्कण्टक होकर भजन करो।

तुम्हारा प्रत्येक प्रयत्न जो असफल हो रहा है, इसमें भी भगवान्‌की कृपाका ही हाथ समझो। वे तुम्हें मोहमें डालनेवाली स्थितिसे निकालकर अपनी सेवामें रखना चाहते हैं, यह सब उसी-का आयोजन है। ऐसा न होता तो पता नहीं, धन-मानका मद तुम्हें कहाँ—भगवान्‌से कितनी दूर—ले जाकर किस नरकमें पटकता। बड़े भाग्यवान् और भगवान्‌के कृपापात्र हो तुम—जो इस समय भगवान्‌की कृपादृष्टिके पात्र हो रहे हो और भगवान्‌ने तुम्हारे कल्याणका कार्य अपनी कृपाशक्तिके हाथोंमें सौंप दिया है। श्रीभगवान्‌ने स्वयं कहा है—

> यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः।
> ततोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्॥
> स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
> मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०। ८८। ८-९)

'(भोगोंमें रचा-पचा हुआ जो मनुष्य मेरा भजन नहीं कर पाता, चाहनेपर भी नहीं कर पाता। धन-मानरूपी विघ्न जिसे बार-बार मेरे कल्याणकारी मार्गसे हटाते और दुःखदायी भोगोंमें लगाते रहते हैं, उसे निर्विघ्न करके अपनी ओर खींचनेके लिये) जिसपर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसके सारे धनको धीरे-धीरे हर लेता हूँ। तब उस निर्धन और अनेकों दुःखोंसे दुःखित मनुष्यको उसके स्वजन-बान्धवलोग छोड़ देते हैं। (कोई भी घरवाले, मित्र-बन्धु या सगे-सम्बन्धी उससे प्रेमका और सहानुभूतिका सम्बन्ध नहीं रखना चाहते) वह कहीं धनके लिये उद्योग भी करता है; तो मेरी कृपासे उसके सारे उद्योग निष्फल हो जाते हैं, फिर वह सब ओरसे निराश होकर मेरे परायण रहनेवाले भक्तोंके साथ मित्रता करता है (वे उसे प्रेमसे अपनाते हैं) तब मैं उसपर अनुग्रह करता हूँ (वह सब दुःखोंसे छूटकर मुझको पा जाता है)।'

(३५)

पतित होकर पतितपावनको पुकारो

भाई ! तुम इतना घबराते क्यों हो। परमात्माकी असीम दयालुतापर विश्वास करो। हम पतित हैं तो क्या हुआ, वे तो 'पतितपावन' हैं। सचमुच पतित बनकर पतितपावनको पुकारो— अशरण होकर अशरणशरणके शरण हो जाओ। फिर देखो—करोड़ों स्नेहमयी जननी-हृदयोंको भी लजा देनेवाला परमात्माका स्नेह-स्रोत उमड़ता दिखलायी देगा और तुम उसके प्रवाहमें बह जाओगे।

हालत खराब है तो क्या, लाख वर्षकी अँधेरी कोठरी प्रकाश आते ही प्रकाशित हो जाती है। वह लाख वर्षकी अपेक्षा नहीं करती। इसी प्रकार भगवान्‌के शरण होते ही सारे पाप तुरंत भस्म हो जाते हैं। मनमें दृढ़ता धारणकर भगवान्‌का स्मरण करो और अपनेको सर्वतो-भावसे उनके चरणोंपर न्योछावर कर देनेकी चेष्टा करो। उनकी दयालुतापर विश्वास करो और यह दृढ़ धारणा कर लो कि 'मैं उनका हूँ, उनका अभय हस्त मेरे मस्तकपर सदा ही टिका हुआ है।' यह भावना जितनी ही बढ़ेगी उतना ही आनन्द बढ़ेगा। नाम-जपमें मन ऊबता है तो जबरदस्ती कड़वी दवाकी भाँति ही उसका नियमपूर्वक सेवन करो। भगवान्‌के बलपर मनमें धीरज रक्खो। आचरणोंको उज्ज्वल बनानेकी कोशिश करो।

(३६)

साधकोंसे

········सादर सप्रेम हरिस्मरण! यथायोग्य। आपलोगोंके कई पत्र मिले। मेरे बुरे स्वभावसे आपलोग परिचित ही हैं, अतएव पत्रोंका जवाब समयपर न लिखनेके लिये आपलोग मुझे क्षमा करेंगे। श्रीभगवान्‌की कृपासे आपलोगोंको बहुत अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है, नवधा भक्तिके कई अङ्गोंकी पूर्ति अपने-आप हो रही है, अब आपलोग अपने भावोंको उच्च बनाकर इस सुअवसरसे पूरा लाभ उठानेकी चेष्टा कीजिये। 'भाव', 'गुण' और 'साधन'—तीनों साथ-साथ चलनेसे शीघ्र और सम्यक् लाभ होता है। एक आदमी

भजन-साधन करता है, परन्तु दुर्गुणोंका त्याग नहीं करता और बहुत नीची भावनासे किसी असदुद्देश्यकी पूर्तिके लिये भजन करता है, तो उसका भजन बहुत देरमें शुभ फलदायक होता है। दूसरा एक आदमी सत्य-अहिंसादि सद्‌गुणोंका तो अर्जन करना चाहता है, परन्तु भगवान्‌का भजन नहीं करता और भाव भी नीची ही श्रेणी-का रखता है, उसमें सद्‌गुण टिकते नहीं; और तीसरे एक आदमीका भाव तो बहुत ऊँचा है, वह मोक्षतकका त्याग करनेकी इच्छा करता है; परन्तु न भजन करता है और न दुर्गुणोंका ही त्याग करता है तो उसकी भावना कार्यरूपमें शायद ही परिणत होती है। जो 'भजन' भी करता है, जिसका 'भाव' भी बहुत ऊँचा है और जो भगवान्‌को प्रिय लगनेवाले 'सद्‌गुणों' का भी अर्जन करता है, वह सच्चा साधक है और उसको सफलता भी मिलती ही है। भजन प्रेमभावसे हो, जिसमें किसी भी वस्तुकी चाह न रहे—भजनके लिये ही भजन हो, और दैवी गुणोंका खूब अर्जन किया जाय। यह स्मरण रखना चाहिये, जहाँ वास्तविक भक्ति है, वहाँ दैवी गुण रहेंगे ही। और जहाँ दैवी गुण टिके हुए हैं और बढ़ रहे हैं, वहाँ भगवान्‌का आश्रय है ही। सूर्य और सूर्यके प्रकाशकी भाँति इनका अविनाभावसम्बन्ध है।

..............आज्ञानुसार सब काम करने चाहिये। भगवान्‌की अपने ऊपर बड़ी कृपा समझनी चाहिये। जबतक भगवान्‌की कृपाके विश्वासमें कमी है, तभीतक दुःख, भय, शोक, विषाद, चिन्ता, निराशा, उद्वेग, द्वेष आदि दोष और दुःख रहते हैं। भगवत्कृपाकी

छत्रच्छायामें इनकी छाया भी नहीं रह सकती। बार-बार चिन्तन करनेसे विचार पुष्ट होकर अन्तमें प्रत्यक्ष मूर्तिमान् हो जाता है। हमपर भगवान्‌की नित्य कृपा है, हम निर्भय हैं, निश्चिन्त हैं, परम सुखमय हैं, शान्तिमय हैं, ऐसा दृढ़ विचार करनेपर हम ऐसे ही बन जायँगे। वास्तवमें आत्मा या भगवान्‌की दृष्टिसे ऐसे ही हैं भी। भ्रमसे स्वरूपकी विस्मृति हो रही है।

(३७)

संसारमें रहते हुए ही भगवत्प्राप्तिका साधन कैसे हो ?

आपने लिखा 'नाटकके पात्रकी-ज्यों अभिनय करनेकी बात पूरी समझमें नहीं आयी; मनमें एक भाव हो और ऊपरसे दूसरा बतलाया जाय, तो उसमें झूठ और धोखेका आरोप होगा।' बात ठीक है, झूठ और धोखा नीयतमें दोष होनेसे होता है। नाटकके पात्रके द्वारा जो क्रिया होती है, वह इतनी जाहिर होती है कि किसीको उसमें झूठ और धोखेका अनुमान नहीं होता। सभी जानते हैं कि ये केवल अभिनय करनेवाले पात्र हैं, स्टेजपर जो कुछ दिखलाया जाता है वह खेल है। खेलमें जो आपसका व्यवहार होता है, वह स्टेजपर तो सच्चा ही होता है—और है भी वह स्टेजके लिये ही। इसी प्रकार यह संसार भगवान्‌का नाट्य-मञ्च (स्टेज) है। इसपर हमलोग सभी खेलनेवाले पात्र (ऐक्टर) हैं। सभी-के जिम्मे अलग-अलग पार्ट हैं। अपना-अपना पार्ट सभीको खेलना पड़ता भी है। सभी बाध्य हैं भगवान्‌के कानूनके, परन्तु जो

खेलके सामानको, खेलसे होनेवाली आमदनीको अपनी मान लेता है, उसपर अधिकार करना चाहता है, अथवा अपना पार्ट ठीक नहीं खेलता यानी अकर्तव्य कर्म करता है, वह दण्डका पात्र होता है। जो ठीक खेल खेलता है, तथा खेलके सामान, खेलके पात्र और खेलकी आमदनीपर प्रभुका अधिकार समझता है वह खेल चाहे किसी रसका हो—करुण हो या भयानक, सुन्दर हो या बीभत्स—वह सदा आनन्दमें रहता है। उसका काम है अपने पार्टको ठीक करना। धोखा या झूठ तब हो, जब वह मनसे तो पार्ट करना चाहे नहीं और केवल ऊपरसे करे। अर्थात् भगवान्के विधानके अनुसार जो जिसका पुत्र है, उसे (इस स्टेजपर—संसारमें) उसको ठीक पिता ही जानकर सच्चे मनसे पुत्रका-सा बर्ताव ही करना चाहिये। स्त्रीको पतिके साथ पत्नीका, पतिको पत्नीके साथ पतिका, माताको पुत्रके साथ माताका, पुत्रको माताके साथ पुत्रका इसी प्रकार सच्चे मनसे बर्ताव करना चाहिये। जब बर्ताव और मन एक हैं, तब धोखा और झूठ क्यों है। बर्ताव और मन दोनों ही व्यवहारमें हैं—अर्थात् स्टेजके खेलके लिये हैं। और व्यवहारमें दोनों ही समान हैं। रही स्टेजके बाहरकी बात—वास्तविक स्थितिकी बात, सो वास्तविक स्थिति तो खेल है ही। खेलमें वहींतक सत्यता है, जहाँतक खेलसे सम्बन्ध है। खेलके परे तो हम न पात्र हैं, न हमारा कोई नाता है। हमारा नाता तो केवल एक प्रभुसे है, जिसका यह सारा खेल है।

या यों समझना चाहिये कि यह घर मालिकका—भगवान्का है। हम इसमें सेवक हैं। भगवान्ने नाना प्रकारके सम्बन्ध रचकर

हमसे सेवा लेनेके लिये इतने सम्बन्धियोंको भेजा है। हमें उनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये—भगवान्‌के भेजे हुए समझकर। उनकी सेवासे भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब उनकी सेवामें अवहेलना क्यों की जाय ? परन्तु उनकी सेवा करनी है भगवान्‌की सेवाके लिये ही। हमारा सम्बन्ध भगवान्‌से ही है—भगवान्‌के नातेसे ही इनसे नाता है। इनकी सेवा इसीलिये हमको आनन्द देती है कि इससे भगवान् प्रसन्न होते हैं। यदि भगवान् कहें कि तुम्हें दूसरा काम दिया जायगा, इनकी सेवा दूसरोंको सौंपी जायगी, तो बहुत ठीक है। हमें तो भगवान्‌का काम करना है न ? वे कुछ भी करावें। वे यहाँ रक्खें तो ठीक है, दूसरी जगह (और किसी योनिमें) भेज दें तो ठीक है। जिनसे सम्बन्ध है, उनके बीचमें रक्खें तो ठीक है, और उनसे अलग रक्खें, तो भी ठीक है। घर उनका; घरकी सामग्री उनकी, घरके आदमी उनके और हम भी उनके। वे चाहे जैसे चाहे जिसका उपयोग करें। न भोगकी इच्छा हो न त्यागकी; न कोई अपना हो न पराया; न जीनेमें सुख हो न मरनेमें दुःख। हर बातके लिये वैसे ही तैयार रहना चाहिये, जैसे आज्ञाकारी सेवक अपने मालिकका हुक्म बजानेके लिये तैयार रहता है।

बस, मैनेजर बन जाय—मालिक नहीं। मालिकीका दावा छोड़ दे, ममत्व हटा ले; मालिक चाहे जहाँ रक्खें। इस दुकानके रुपये उस दुकानमें भेजनेकी आज्ञा दें, तो खुशी है; उस दुकानके रुपये यहाँ मँगवा लें, तो खुशी है। यहाँके किसीको भी बदली करके और किसी जगह भेज दें, या किसीको बदली करके यहाँ

बुला लें—दोनोंमें ही खुशी है। और हमारी यहाँसे बदली कर दें तो भी खुशी है। हम भी उन्हींके, सब दुकानें उन्हींकी, सब सामान-धन उनका, और आदमी उनके। इस प्रकार संसारमें रहनेसे एक तो अभिमानका नाश होता है, जो बहुत-से पापोंकी जड़ है। तथा घर और घरके लोगोंमें ममता नहीं रहती, जो दुःखोंको उपजाती है। याद रखना चाहिये, दुःख ममतासे ही होता है। न मालूम कितने लोगोंके रोज पुत्र मरते होंगे, कितनोंके दिवाले निकलते होंगे; हम नहीं रोते। परन्तु जिसमें 'मेरापन' है, उसको कुछ भी हो जाय तो बड़ा दुःख होता है। मालिकका मान लेनेपर ऐसी ममता नहीं रहती। क्योंकि सारी दुनिया ही मालिककी है। कोई कहीं रहे, रहेगा मालिककी दुनियामें ही। पाप आसक्तिसे होते हैं, मालिकका मान लेनेपर आसक्ति भी नहीं रहती। और बिना किसी तकलीफके सावधानीके साथ संसारमें कर्तव्य-कर्म किया जाता है, इससे सेवारूप भजन भी होता है।

इस विषयको ठीक तरहसे समझना चाहिये। यह ठीक समझमें आ जानेपर फिर किसी भी हालतमें दुःख या अशान्ति नहीं हो सकती। जीवन-मृत्यु, मान-अपमान, लाभ-हानि, सुख-दुःख—सभीमें मालिककी लीला, मालिकका हाथ, मालिककी प्रसन्नता, मालिककी रुचि, मालिकका विधान और उसीमें अपना परम मङ्गल देखकर अपार आनन्द और विशाल शान्ति रहती है। कर्तव्य-कर्म तो मालिककी सेवाके लिये किये जानेवाले अभिनयके रूपमें होता ही है। निरन्तर एक ही उद्देश्य रहता है, जीवन एक ही लक्ष्यपर लग जाता है—

स्थिर हो जाता है; वह है भगवान्की प्रसन्नता, भगवान्का प्रेम, भगवान्की उपलब्धि। यही मनुष्य-जीवनका सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य है। भगवान्की उपलब्धिको छोड़कर जीवनका और कोई भी प्रयोजन नहीं होना चाहिये। हमारा प्रत्येक कार्य, प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक भावना, प्रत्येक विचारधारा निरन्तर वैसे ही भगवान्की ओर अबाध गतिसे चलनी चाहिये, जिस तरह गङ्गाकी धारा सारे विघ्नोंको हटाती हुई अनवरत समुद्रकी ओर बहती है। समस्त पदार्थ, समस्त भावना, समस्त सम्बन्ध भलीभाँति अर्पण हो जाने चाहिये--भगवच्चरणोंमें। अपना कुछ भी न रहे, सब कुछ उनका हो जाय। जो कुछ उनका हो गया, वही सुरक्षित है, वही सफल है।

मन स्थिर करनेके लिये वैराग्यकी भावना तथा भजनके अभ्यासकी जरूरत है। जबतक संसारमें राग—आसक्ति है, तबतक मनकी चञ्चलताका मिटना बहुत कठिन है। संसारके बदले भगवान्में राग उत्पन्न करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। पहले-पहल तो ध्यानके लिये बैठनेपर वे बातें याद आवेंगी जो और समय नहीं आतीं—फालतू बातें। परन्तु अभ्यास जारी रखनेपर वे सब बातें चली जायँगी। इसके लिये निरन्तर अभ्यासकी आवश्यकता है।

सबसे सरल उपाय है भगवान्के नामका जप करना। मन लगे या न लगे, यदि श्रीभगवान्के नामका जप होता रहेगा तो अन्तमें उसीसे कल्याण हो जायगा—इस बातपर विश्वास करना चाहिये। साथ ही वैराग्यकी भावना बढ़ानी चाहिये। भगवान्के सम्बन्धको छोड़कर जगत्में जो कुछ भी वस्तु है, अन्तमें दुःख देनेवाली ही है।

जगत्‌की, घरकी, शरीरकी सेवा करनी चाहिये—भगवान्‌के सम्बन्ध-को लेकर ही। यदि भोगोंके सम्बन्धसे जगत्‌का सेवन होगा तो उससे दुःख ही उपजेगा, यह निश्चय समझना चाहिये। भगवान्‌से रहित जगत्—भोग-जगत् तो 'दुःखालय' ही है।

(३८)

काम-क्रोधादि शत्रुओंका सदुपयोग

आपका कृपापत्र मिला। आपने लिखा कि मेरा मन श्रीकृष्णके भजनके लिये छटपटाता रहता है, परन्तु भजन होता नहीं, तथा काम-क्रोधादि छः शत्रुओंका चेष्टा करनेपर भी नाश नहीं होता। सो ठीक है। श्रीकृष्ण-भजनके लिये मनका छटपटाना श्रीकृष्णका भजन ही है। वह मनुष्य वास्तवमें भाग्यवान् है जिसका मन भजनके लिये व्याकुल है। संसारमें सभी लोग छटपटाते हैं—कोई धनके लिये, कोई पुत्रके लिये, कोई मान-यशके लिये, तो कोई शरीरके आरामके लिये। आप यदि श्रीकृष्ण-भजनके लिये छटपटाते रहते हैं तो निश्चय मानिये, आपपरश्रीकृष्णकी बड़ी कृपा है। आपकी यह छटपटाहट श्रीकृष्णकी प्राप्ति करानेवाली है।

रही काम-क्रोधादि छः शत्रुओंकी बात, सो असलमें ये बड़े शत्रु हैं। मनुष्य बाहरके शत्रुओंका तो नाश करना चाहता है परन्तु इन भीतरी शत्रुओंको अंदर बसाये रखता है। वरं बाहरी शत्रुओंका नाश करने जाकर इन भीतरी शत्रुओंके बलको और भी बढ़ा देता है। भगवत्-कृपासे ही इनका नाश होता है। परन्तु भक्तलोग

इनके नाशकी बात नहीं सोचते। वे तो इन्हें भक्तिसुधासे सींचकर मधुर, हितकर और अनुकूल अनुचर बना लेते हैं। आप भी भक्तोंके पवित्र भावोंका अनुसरण करके इन काम-क्रोधादिको भगवत्सेवामें लगानेकी चेष्टा कीजिये।

काम—आत्मतृप्तिमूलक कामनाका नाम ही 'काम' है। मनुष्य किसी भी वस्तुकी कामना करे, उसका लक्ष्य होता है सुख ही। विभिन्न जीवोंके कामनाके पदार्थ चाहे भिन्न-भिन्न हों, परन्तु सभी चाहते हैं आनन्द—और आनन्द भी ऐसा कि जो सदा एक-सा बना रहे! परन्तु अज्ञानवश उसे खोजते हैं विनाशी असत् वस्तुओं-में। इसीसे उन्हें सुख—आनन्दके बदले वार-बार दुःख मिलता है। परमानन्दस्वरूप तो श्रीभगवान् ही हैं। उन्हींकी प्राप्तिसे नित्य अविनाशी परमानन्दकी प्राप्ति है। अतएव कामको परमानन्दस्वरूप श्रीकृष्णकी प्राप्तिमें लगाना चाहिये। श्रीकृष्ण-प्राप्ति ही आत्मतृप्तिकी अवधि है। स्थूलरूपसे कामका प्रधान आधार है नारीके प्रति पुरुषका और पुरुषके प्रति नारीका विकारयुक्त आकर्षण। यह आकर्षण होता है स्मरण, चिन्तन, दर्शन, भाषण और सङ्ग आदिसे। काम-रिपुपर जय पानेकी इच्छा करनेवाले नर-नारियोंको पर-स्त्री और पर-पुरुषके चिन्तन-दर्शनादिसे यथासाध्य बचकर रहना चाहिये। और दर्शनादिके समय परस्पर मातृभाव तथा पितृ-भावकी भावना दृढ़ करनी चाहिये। कामजयी कृष्णानुरागी संतोंके द्वारा श्रीकृष्णके रूप, गुण, माहात्म्यकी रहस्यमयी चर्चा सुननेपर श्रीकृष्णके प्रति आकर्षण होता है और श्रीकृष्ण ही 'काम' के लक्ष्य बन जाते हैं। इससे कामका शत्रुपन सहज ही नष्ट हो जाता है।

क्रोध—किसीके मनमें किसी वस्तुकी कामना है। वह कामना पूरी नहीं हो पाती, इससे वह दुखी रहता है। इसी बीचमें जब किसीसे कोई बात सुनकर या जानकर उसे यह पता लगता है कि अमुक व्यक्तिके कारण मेरा मनोरथ सिद्ध नहीं हो रहा है, अथवा कोई उसे जब गाली देता है अथवा मनके प्रतिकूल कुछ करता-कहता है, तब एक प्रकारका कम्पन पैदा होता है; वह कम्पन चित्तपर आघात करता है, चित्तके द्वारा तत्काल वह बुद्धिके सामने जाता है, बुद्धि निर्णय करती है कि यह हमारे अनुकूल नहीं है। बस, उसी क्षण उसके विपरीत दूसरा कम्पन उत्पन्न होता है। इन दोनों कम्पनोंमें परस्पर संघर्ष होनेसे ताप पैदा होता है। यही ताप जब बढ़ जाता है, तब स्नायुसमुदाय उत्तेजित हो उठते हैं और चित्तमें एक ज्वालामयी वृत्ति उत्पन्न होती है। इसी वृत्तिका नाम क्रोध है। असलमें काम ही प्रतिहत होकर क्रोधके रूपमें परिणत हो जाता है। क्रोधके समय मनुष्य अत्यन्त मूढ़ हो जाता है। उसके चित्तकी स्वाभाविक पवित्रता, स्थिरता, सुखानुभूति, शान्ति और विचार-शीलता नष्ट हो जाती है। पित्त कुपित हो जाता है, जिससे सारा शरीर जलने लगता है। नसें तन जाती हैं, आँखें लाल हो जाती हैं, वायुका वेग बढ़ जानेसे चेहरा विकृत हो जाता है, लंबी साँस चलने लगती है, हाथ और पैर अस्वाभाविकरूपसे उछलने लगते हैं। इस प्रकार जब शरीरकी अग्नि विकृत होकर बढ़ जाती है तब वाणीपर उसका विशेष प्रभाव पड़ता है, क्योंकि वाक्-इन्द्रियका कार्य अग्निसे ही होता है। अतएव मुखसे अस्वाभाविक और बेमेल वाक्योंके साथ ही निर्लज्जभावसे गाली-गलौजकी वर्षा होने लगती है। उस

समय मनुष्य परिणाम-ज्ञानसे शून्य हो जाता है, उसकी हिताहित सोचनेवाली विवेकशक्ति नष्ट हो जाती है। शरीर और मन दोनों ही अपनी स्वाभाविकताको खोकर अपने ही हाथों वर्षोंके कमाये हुए साधन-धनको नष्ट कर डालते हैं। प्यारे मित्रोंमें द्वेष, बन्धुओंमें वैर और स्वजनोंमें शत्रुता हो जाती है। पिता-पुत्र और पति-पत्नीके दिल फट जाते हैं। कहीं-कहीं तो आत्महत्यातककी नौबत आ जाती है। इस प्रकार क्रोधरूपी शत्रु मनुष्यका सर्वनाश कर डालता है। क्रोधी आदमी असलमें भगवान्‌का भक्त नहीं हो सकता। ज्ञानके लिये तो उसके अन्तःकरणमें जगह ही नहीं होती। इस भीषण शत्रु क्रोधका दमन किये बिना मनुष्यका कल्याण नहीं है। इसका दमन होता है इन चार उपायोंसे—१. प्रत्येक प्रतिकूल घटनाको भगवान्‌का मङ्गल-विधान समझकर उसे परिणाममें कल्याणकारी मानना और उसमें अनुकूल बुद्धि करना, २. भोगोंमें वैराग्यकी भावना करना, ३. सहनशीलताको बढ़ाना और ४. क्रोधके समय चुप रहना।

क्रोधको अनुकूल और हितकर बनानेके लिये उसको भगवान्‌की सेवामें लगानेका अभ्यास करना चाहिये। क्रोधका प्रयोग जब केवल भगवद्द्वेषी भावोंपर किया जाता है तब उसके द्वारा भगवान्‌की सेवा ही होती है। भगवान्‌के प्रति द्वेषके भाव जहाँ मिलें वहीं क्रोध हो, उन्हें हम सह न सकें। यदि वे हमारे अपने ही मनके अंदर हों तो हम वैसे ही अपने मनका नाश करनेको भी तैयार हो जायँ, जैसे जहरीला घाव होनेपर मनुष्य अपने प्यारे अङ्गोंको भी कटवा डालनेके लिये तैयार हो जाता है। गोसाइंजी महाराजने कहा है—

जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ।
सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ॥

× × ×

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥

× × ×

जरि जाउ सो जीवन जानकिनाथ जिऐ जग में तुम्हरो बिनु ह्वै।

× × ×

हिय फाटउ, फूटउ नयन, जरउ सो तन केहि काम।
द्रवइ, स्रवइ, पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

भगवान्‌की सेवामें भगवत्-प्रतिकूलताको स्थान नहीं है। यह समझकर जहाँ-जहाँपर भगवत्-प्रतिकूलता हो, फिर चाहे वह अपने ही मनमें क्यों न हो, वहीं क्रोधका प्रयोग करके उसे तुरंत हटाना और उसका नाश करना चाहिये। यही क्रोधका सदुपयोग है।

लोभ—लोभ भी बहुत बड़ा शत्रु है। संतोंने लोभको 'पापका बाप' बतलाया है। अर्थात् लोभसे ही पाप पैदा होते हैं, कामना-में बाधा आनेपर जैसे क्रोध पैदा होता है, वैसे ही कामनाकी पूर्ति होनेपर लोभ उत्पन्न होता है। ज्यों-ज्यों मनचाही वस्तु मिलती है त्यों-ही-त्यों और भी अधिक पानेकी जो अबाध—अमर्याद लालसा होती है, उसे लोभ कहते हैं। लोभसे मनुष्यकी बुद्धि मारी जाती है, उससे विवेककी आंखें मुंद जाती हैं और वह विषयलोलुपताके वश होकर न्याय-अन्याय तथा धर्माधर्मका विवेक भूलकर मनमाना आचरण करने लगता है। इस लोभको मधुर, हितकर और अनुकूल बनानेका उपाय यह है कि इसका प्रयोग भजन, ध्यान, नाम-जप,

सत्सङ्ग, भगवत्कथा आदिमें ही किया जाय। अर्थात् धन, मान, कीर्ति, भोग, आराम आदिसे लोलुपता हटाकर भगवान्‌के ध्यान, उनकी सेवा, उनके नामका जप, उनके तत्त्वज्ञ प्रेमी भक्तोंके सङ्ग, उनकी लीला, कथा आदिके सुनने-पढ़ने आदिका लोभ हो। ऐसा करनेसे लोभ शत्रु न होकर मित्र बन जाता है।

मोह—किसी भी विषयका जब अत्यधिक लोभ जाग्रत् हो जाता है तब बुद्धि उसमें इतनी फँस जाती है कि दूसरे किसी भी विषयका मनुष्यको ध्यान नहीं रहता, चाहे वह कितना ही आवश्यक और उपयोगी क्यों न हो। जैसे किसी व्यभिचारी मनुष्यका मन किसी स्त्रीमें या किसी स्त्रीका किसी पुरुषमें लग जाता है तो फिर उसे नींद, भूखतकका पता नहीं लगता। धन-दौलत, विलास वैभव, भोग-आराम सबसे वह बेसुध हो जाता है। वह निरन्तर अपने उस मनोरथके चिन्तनमें ही डूबा रहता है। यही मोह है। यह मोह जब सांसारिक पदार्थोंमें न रहकर भगवान्‌की रूपमाधुरीमें हो जाता है, भगवान्‌की रूपमाधुरीपर मुग्ध होकर जब वह पागलकी तरह सब कुछ भूलकर उसीमें फँसा रहता है, तब मोहका सदुपयोग होता है।

मद—मद कहते हैं नशेको। धन, मान, पद, बड़प्पन, विद्या, बल, रूप और चातुरी आदिके कारण मनुष्यके मनमें एक ऐसी उल्लासमयी अन्धवृत्ति उत्पन्न होती है, जो विवेकका हरण करके उसे उन्मत्त-सा बना देती है। इसीका नाम 'मद' है। मदोन्मत्त मनुष्य किसीकी परवा नहीं करता। यही मद जब भगवच्चरणके प्रेम, भगवन्नाम-गुण-कीर्तन और भगवान्‌के ध्यानमें प्रयुक्त हो जाता

है, तब मनुष्य दिन-रात उसी पवित्र नशेमें चूर रहता है। जहाँ सांसारिक पदार्थोंका नशा नरकोंमें ले जाता है, वहाँ भगवत्प्रेम तथा भगवद्ध्यानका नशा साधकको नित्य परमानन्दमय भगवत्-स्वरूप-की प्राप्ति करा देता है। श्रीमद्भागवतमें ऐसे उन्मत्त भक्तोंको तीनों लोकोंके पवित्र करनेवाला बतलाया है। 'मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति।' अतएव सब कुछ भूलकर भगवान् श्रीकृष्णके रूप, गुण, नाम आदिके चिन्तन और कीर्तनके आवेशमें डूबे रहना ही मदको अनुकूल और हितकारी बनाना है।

मत्सर—दूसरोंकी उन्नतिको न सह सकना मत्सर कहलाता है; इसीको डाह कहते हैं। संसारमें लोगोंकी उन्नति होती ही है और मत्सरताकी वृत्ति रखनेवाला मनुष्य उन्हें देख-सुनकर नित्य जलता रहता है तथा अपनी नीच भावनासे निरन्तर उनका पतन चाहता है। परिणामस्वरूप वह नाना प्रकारके अनर्थ करके अन्तमें नरकगामी हो जाता है। इस मत्सरताका सदुपयोग होता है इसे सात्त्विक बनाकर भजनमें ईर्ष्या करनेसे। किसी साधककी साधना-को देखकर मनमें यह दृढ़ निश्चय करना कि 'मैं इनसे भी ऊँची साधना करके शीघ्र-से-शीघ्र भगवान्‌को प्राप्त करूँगा' और तदनुसार तत्पर होकर दृढ़ताके साथ साधनामें लग जाना—यह सात्त्विक मत्सरताका स्वरूप है। इसमें किसीके पतनकी कामना नहीं होती। इससे केवल भजन-साधनमें उत्साह होता है। इससे मत्सरता भी हितकारिणी बन जाती है।

आप अपने इन काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर शत्रुओंको भगवान्‌में लगाकर इन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा

कीजिये। भगवान्‌में और उनकी कृपाशक्तिमें विश्वास करके प्रयोग शुरू कीजिये। आपका विश्वास सच्चा होगा तो भगवत्कृपासे शीघ्र ही आप उत्तम फल प्रत्यक्ष देखेंगे।

(३९)

साधक संन्यासीके कर्तव्य

आपका स्वास्थ्य अब अच्छा होगा। असलमें यह स्वस्थता तो प्रकृतिस्थता ही है। असली स्वस्थता तो आत्मामें स्थित होना है, जिसके लिये सारा प्रयत्न है। संसारमें यही मोहकी भाषा है कि 'प्रकृतिस्थ' अपनेको 'स्वस्थ' कहता है। पञ्चदशीमें कहा है—

क्षुधेव दृष्टबाधाकृद् विपरीता च भावना।
जेया केनाप्युपायेन नास्त्यत्रानुष्ठितेः क्रमः॥

'सत्य ब्रह्मवस्तुमें असत्ताकी भावना और असत्य प्रपञ्चमें सत्-भावनारूपी विपरीत भावना सदा ही क्षुधाके समान दुःखदायिनी है। इसे किसी भी उपायसे जीतना चाहिये। इसमें किसी अनुष्ठान-के क्रमकी अपेक्षा नहीं।' अतएव हम यथार्थमें स्वस्थ होना चाहें तो इसके लिये चेष्टा करनी चाहिये और इस चेष्टामें निरन्तर ब्रह्म-चिन्तन ही प्रधान है।

तच्चिन्तनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्।
एतदेकपरत्वं च ब्रह्माभ्यासं विदुर्बुधाः॥

'उसीका चिन्तन, उसीका कथन, उसीको परस्पर समझना, इस प्रकार उसमें जो एकपरता होती है, उसीको विद्वान् लोग ब्रह्माभ्यास कहते हैं।' श्रीभगवान्‌ने भी—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥

(गीता १०।९)

इस श्लोकमें यही उपदेश किया है। उपर्युक्त श्लोक इसी श्लोकका अनुवाद-सा है। मतलब यह कि इस प्रकार अभ्यास-परायण होकर स्वरूपस्थितिरूप स्वस्थता प्राप्त कर लेनेमें ही हमारे जीवनकी सार्थकता है। आप इस अभ्यासमें लगे ही हैं। फिर मैं क्या लिखूँ ? मेरी प्रार्थना है नीचे लिखी बातोंपर ध्यान रक्खें।

१—अवश्य ही ज्ञानी महापुरुष शास्त्रके शासनसे सर्वथा मुक्त तथा विधि-निषेधसे ऊपर उठा हुआ है तथापि ज्ञानके नामपर विहित कर्मत्याग और निषिद्धाचरणका न तो कभी उपदेश करना चाहिये, न वैसा कोई आचरण ही अपनेमें आने देना चाहिये।

२—सम्मान, बड़ाई, स्त्री तथा धनसे सदा दूर रहना चाहिये। 'हमें इनके संसर्गसे कोई नुकसान नहीं होगा'—वस्तुतः किसीकी ऐसी स्थिति हो तो भी ऐसा मानना नहीं चाहिये। संन्यासीके बाह्य स्वरूपकी रक्षाके लिये भी इनका त्याग सर्वथा आवश्यक है।

३–मठस्थापन, स्थाननिर्माण, पन्थप्रतिष्ठा, शिष्यग्रहण और सम्प्रदाय-स्थापनादिसे त्यागी विरक्त संन्यासीको सदा दूर रहना चाहिये। कर्तव्यकी भावना और परिस्थितिवश कभी-कभी इनकी आवश्यकता प्रतीत भी हो तो भी इनसे डरना चाहिये। पहुँचे हुए महापुरुषोंकी बात तो अलग है, साधारणतया तो इन बातोंसे राग-द्वेषकी वृद्धि, प्रपञ्चके विस्तार और परमार्थपथसे च्युतिकी ही सम्भावना रहती है।

४—किसी भी स्थान, वस्तु या कर्तव्यविशेषमें अनुराग नहीं बढ़ाना चाहिये। अनुरागसे ममत्व होता है और ममत्वसे बन्धन! जडभरतकी कथा याद रहे।

५–जीवनका एक क्षण भी व्यर्थ न जाने देना चाहिये। चाहे अपने लिये कुछ भी कर्तव्य न भासता हो। आवश्यकतानुसार शौच-स्नान, भिक्षा और शयनादिमें जितना नियमित और परिमित समय बीते, उसको छोड़कर शेष सब समय मनसे ब्रह्मचिन्तन और शरीरसे ब्रह्मसेवनके कार्यमें ही लगाना चाहिये। शरीरनिर्वाहकी क्रियाओंको करते समय भी चित्त सदा ब्रह्मचिन्तनमें ही संलग्न रहना चाहिये।

६–पर-दोष तथा पर-गुणोंका चिन्तन नहीं करना चाहिये। इनमें पर-दोषोंका तो बिल्कुल ही नहीं करना चाहिये।

७–जहाँतक हो खण्डन-मण्डन अथवा वाद-विवादमें समय नहीं लगाना चाहिये। क्योंकि विवादसे विवादके बढ़नेकी और द्वेष-क्रोधादिके उत्पन्न होनेकी सम्भावना रहती है। विजयमें अभिमान और पराजयमें विषाद होता है। समय तो व्यर्थ जाता ही है।

८—किसी प्रकारका संग्रह नहीं करना चाहिये।

ये बातें मैंने उपदेशके तौरपर नहीं, आपकी आज्ञाके अनुसार स्नेहसम्बन्धको लेकर ही प्रार्थनाके रूपमें लिखी हैं। वस्तुतः मैं तो सभी प्रकारसे आपके द्वारा उपदेश प्राप्त करनेका ही अधिकारी हूँ। कृपा बनी रहे। ये बातें भी साधककी दृष्टिसे ही हैं। सिद्धके लिये तो कुछ कहना ही नहीं बनता।

श्रीभगवान्के शृङ्गारका ध्यान

आपने लिखा..........परन्तु अब दो दिनसे दीवालीके कारण साधन छूटा है। दीवाली बाद फिर शुरू करनेका विचार है सो फिरसे शुरू किया या नहीं ? असल बात यह है कि जिस वस्तुको पानेके लिये प्राण छटपटाता हो, उसका साधन छूट ही कैसे सकता है। छूट जाता है, इससे यही सिद्ध होता है कि उसके छूटनेकी परवा नहीं है। खैर, किसी तरह करना चाहिये।

करत करत अभ्यासके जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जातमें पाथर परे निसान॥

यह तो अभ्यासकी खूबी है ही, फिर भगवत्सम्बन्धी अभ्यासमें तो दैवी सहारा भी मिलता है।

श्रीभगवान्के मधुर अनूपरूपका ध्यान करना बहुत उत्तम है। उनकी सुरीली वंशी-ध्वनिका, उनके दिव्यविग्रहका, दिव्य गन्धका, चरणोंके नूपुरोंकी मधुर-ध्वनिका तथा अङ्गस्पर्शका ध्यान बहुत ही उत्तम है। परन्तु इसमें डर यही है कि ऐसा करनेवाले लोग बहुधा भगवान्को छोड़कर विषयका ध्यान करने लगते हैं। भगवान्को छोड़ देनेपर ध्वनि, गन्ध, स्पर्श आदि सब 'विषय' होते हैं। इस सम्बन्धमें साधक बहुत भूल कर जाता है। मन्दिरमें भगवान्की मूर्ति और महान् सुन्दर शृङ्गारको देखकर प्रसन्नता होती है। वह प्रसन्नता शृङ्गारकी सामग्री और मूर्तिकी

बनावटको देखकर होती है या भगवत्प्रेमजनित है—यह बतलाना बहुत मुश्किल है। यदि भगवत्प्रेमजनित है तो भगवान्‌की प्यारी मूर्ति यदि बनावटमें कुढङ्गी और शृङ्गारहीन हो तो क्या उससे प्रसन्नता नहीं होनी चाहिये ? भक्तका तो भगवान्‌से प्रेम है; गहनों, कपड़ों और रूप-रंगसे तो नहीं। गहने, कपड़े और रूप-रंग भी अवश्य ही बड़े दर्शनीय हैं, क्योंकि उनका भगवान्‌के साथ संयोग हो गया है। अपने प्रियतमको जिस वस्तुसे सुख पहुँचे, जो चीज प्यारेके अङ्गपर चढ़े, जिसे प्यारा धारण करे, वह वस्तु देखते ही परम हर्ष और रोमाञ्च होना स्वाभाविक है। परन्तु उसका कारण ये वस्तुएँ नहीं हैं, कारण है हमारा वह प्रियतम, जो इन वस्तुओंको ग्रहण करता है। इसीलिये ये वस्तुएँ प्रिय हैं। यदि प्रियतम इन्हें नहीं धारण करे या धारण करनेमें ये वस्तुएँ उसे दुःख पहुँचानेवाली हों तो हमारे मनके महान् अनुकूल होनेपर भी प्रतिकूल दीखने लगें और तत्काल त्याज्य हो जायँ। यही तो प्रेमका भाव है। प्रसादका स्वाद नहीं देखा जाता, उसमें देखा जाता है केवल यही कि वह प्रियतमकी जूँठन है। चाहे वह रुचिर हो या कड़ुआ, अमृत हो या विष, जिसे प्रियतमने मुँहमें रख लिया—बस, वही हमारे लिये परम० मधुर और अमृत है। मीराका प्रसादरूपसे जहर पीना प्रसिद्ध है। यही हाल शृङ्गारका है। भगवान् श्रीकृष्णके हाथकी मुरली और माँ कालीके हाथकी भयङ्कर करवाल और नरमुण्डोंकी माला इसीलिये भक्तोंको प्यारी और सुहावनी लगती हैं। वहाँपर यह नहीं देखा जाता कि वह क्या वस्तु है। देखा जाता है केवल यही कि यह हमारे इष्ट प्रभुकी

प्यारी वस्तु है। भगवान्‌की उपासना और पूजासे यहाँ बहुत भूलकी सम्भावना है। सुन्दर बनावट, बढ़िया शृङ्गार-पोशाक, भजनकी मधुर ध्वनि, विशाल मन-मोहन मन्दिर आदिको देखकर मनुष्य भगवान्‌के बदले विषयोंपर विमुग्ध हो जाता है। इससे इन वस्तुओंका खण्डन करना इष्ट नहीं है। बढ़िया-से-बढ़िया चीज ही भगवान्‌के काममें लगानी चाहिये। परन्तु उस वस्तुका महत्त्व बढ़िया होनेके नाते नहीं है; वह भगवान्‌को चढ़ गयी, इसीसे उसका महत्त्व है। शृङ्गारकी सामग्रियोंसे भगवान्‌की शोभा नहीं, भगवान्‌के संयोगसे उनकी शोभा और महत्त्व है। श्रीभगवान्‌के रूपके ध्यानमें उनकी मुरली-ध्वनि, नूपुर-ध्वनि, अङ्ग-स्पर्श, गन्ध आदिके ध्यानमें इसीलिये ऊँचे वैराग्ययुक्त अधिकारकी आवश्यकता है। श्रीराधाजी या श्रीसीताजीसहित भगवान्‌के ध्यानमें यही प्रधान बाधा समझनी चाहिये कि हमारी विषयप्रवण बुद्धि कहीं शृङ्गारयुक्त स्त्रीरूपमें विषय-बुद्धि न कर ले, कहीं जगज्जननी हमारे विकारका कारण न बन जायँ। इसीलिये विषयी पुरुषोंको श्रीराधाप्रेम और गोपीभाव विषका काम देनेवाला होता है, एवं वही वैराग्यसम्पन्न अधिकारी पुरुषोंके लिये परमतत्त्वके साक्षात्कारका कारण होता है। इस भेदको जान और समझकर ही उपासना होनी चाहिये। इसी-लिये शायद तुलसीदासजी महाराजने सेव्य-सेवकभावको सबके लिये परम उपादेय माना है, जिसमें विकारकी बहुत कम गुंजाइश है।

बस, भगवान्‌की कृपापर भरोसा रखकर उनका निरन्तर स्मरण करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

भगवत्साक्षात्कारके उपाय

प्रश्नोंके उत्तर—

(१) उत्तम लेखोंके संग्रह करनेवाले तथा उत्तम लेख लिखनेवालोंको ईश्वरसाक्षात्कार होना ही चाहिये, यह कोई बात नहीं है। लेख संग्रह करना और लिखना तो परिश्रम, दक्षता, अध्ययन, अभ्यास तथा विद्यासे भी हो सकता है। प्रभुका साक्षात्कार तो प्रेम—सच्चे प्रभु-प्रेमसे होता है। वहाँ विद्या, यज्ञ, दान, कर्म, तप आदिका इतना महत्त्व नहीं है जितना प्रेमका है। वास्तवमें सत्य प्रेम ही प्रभुका स्वरूप है—

> प्रेम हरीको रूप है, वे हरि प्रेमस्वरूप।
> एकहि ह्वै द्वैमें लसै, ज्यों सूरज अरु धूप॥

प्रभु-प्रेम सर्वथा अनन्य और अव्यभिचारी हुआ करता है। उस प्रेमका भाग दूसरे किसीको किञ्चित् भी नहीं मिलता।

मैं अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखना चाहता। इतना ही लिखता हूँ कि मैं अपने ऊपर भगवान्‌की बड़ी कृपा समझता हूँ और पद-पदपर उस परम कृपाका अनुभव करता हूँ।

(२) इस कलिकालमें भगवान्‌का साक्षात्कार अवश्य हो सकता है। भगवान् नित्य हैं तो उनका साक्षात्कार भी सर्वकालमें नित्य है। भगवान्‌के साक्षात्कारका पहला उपाय तो साक्षात्कारकी अति तीव्र और एकमात्र इच्छाका होना है। भगवान्‌की माधुरी सूरतिके दर्शनके लिये प्राणोंमें व्याकुलता, मनमें वेदना और अन्य सारी अभिलाषाओंका त्याग हो जाना चाहिये; परन्तु यह बात सदा याद

रखनी चाहिये कि अपने पुरुषार्थके बलसे भगवान्‌के दर्शन नहीं हो सकते। उस वस्तुकी कोई कीमत नहीं है जिसके बदलेमें वह मिल जाय। व्याकुलता, वेदना और अन्य सारी आकाङ्क्षाओंका त्याग कोई साधन नहीं है। ये तो प्रभु-विरहीके लक्षण हैं। भगवान्‌के दर्शन तो उन्हींकी कृपासे होते हैं। आप जिस स्वरूपके दर्शन चाहते हैं, उसीके दर्शन हो सकते हैं। परन्तु इसमें किसी मनुष्यकी सहायता क्या काम दे सकती है। आपका और आपके प्रभुका बड़ा ही निकट-का सम्बन्ध है; वे आपमें हैं और आप उनमें हैं, वे आपके हैं और आप उनके हैं। इस सीधे सम्बन्धको पहचानकर, पहचाननेमें न आवे तो विश्वास करके ही उन्हें सच्चे हृदयसे पुकारिये। आपकी व्याकुल पुकारसे बड़ा काम हो सकता है। भगवान् सब स्थानोंमें सब कालमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। पुकार सुनते ही उत्तर देते हैं। बच्चा छटपटाता हो और मा बाहर बैठी हो तो क्या वह बच्चेकी पुकार सुनकर कभी उसके पास आये बिना रह सकती है? पुकार बनावटी हो या मा न हो तो दूसरी बात है। यहाँ न होनेका तो सवाल ही नहीं है; क्योंकि भगवान् तो सर्वत्र सर्वकालमें हैं ही। अब आवश्यकता केवल सच्ची पुकारकी है। भगवान् यहाँपर हैं, मेरे एकमात्र प्रेमास्पद हैं। इस विश्वास और निश्चयपर दृढ़तासे आरूढ़ होकर जो भगवान्‌को पुकारा जाता है, वही सच्ची पुकार है। दो बातें होनी चाहिये—एक भगवान्‌के यहाँ होनेमें दृढ़ विश्वास, और दूसरी उन्हींको एकमात्र अपना परम प्रेमपात्र समझना। बस, ऐसा समझकर तीव्र इच्छा और प्राणोंकी व्याकुलतासे जिस किसीने उनको पुकारा हैउसीने उनकी दिव्य झाँकीका दर्शन प्राप्त किया

है। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। भगवान्‌के श्रृङ्गारकी जैसी आप ठीक समझें वैसी ही भावना करें। दर्शन होनेपर असलीका पता आप ही लग सकता है। नामका जप—जो नाम आपको प्रिय लगे उसीका करें। परन्तु श्रीकृष्ण भगवान्‌के उपासकके लिये 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' या 'श्रीराम कृष्ण हरि' अथवा 'श्रीकृष्णः शरणं मम' ये मन्त्र बहुत उपादेय हैं। भगवान्‌को जल्दी आकर्षण करनेका उपाय तो प्रेम है—अनन्य प्रेम है। सारी इन्द्रियाँ उन्हींकी सेवामें लग जानी चाहिये, आरम्भमें नियमपूर्वक नाम-जप, सदा नाम जपते हुए ही कार्य करनेका अभ्यास, नियमित ध्यान करनेकी चेष्टा और ध्यानकी चेष्टा रखते हुए ही कार्य करनेका अभ्यास, असत्य, दम्भ और अभिमानका त्याग, दीनता, नम्रता, प्रेम, मैत्री आदिका ग्रहण करना—ये ही उपाय हैं।

भगवान्‌की कृपाका भरोसा रखना—'उनकी कृपासे मेरा अवश्य उद्धार होगा, भगवान् मुझे जरूर दर्शन देकर कृतार्थ करेंगे' ऐसा निश्चय रखना; 'भगवान् सदा मेरे साथ हैं, मैं उनके शरणागत हूँ, उनका वरद हाथ सदा मेरे मस्तकपर है, मेरे कृतकार्य होनेमें कोई सन्देह नहीं, पाप मेरे पास नहीं आ सकते।' इस प्रकारकी दृढ़ भावना करना बहुत लाभकारी है।

---

(४२)

भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास

जबतक मनुष्य परमात्माको नहीं प्राप्त कर लेता, तबतक नित्य नये जालोंमें फँसता ही रहता है। हमलोग अनन्त जन्मोंसे यही

करते आ रहे हैं। परन्तु यह नहीं मानना चाहिये कि 'उबरनेकी कोई सूरत ही नहीं है।' तुम्हें भगवान्‌पर श्रद्धा रखनी चाहिये कि वे उबारनेवाले हैं, उनको शरण लेते ही सारे जाल सदाके लिये कट जाते हैं। घबराओ नहीं, 'अटकी नाव' भगवत्कृपाके अनुभव-रूपी अनुकूल वायुका एक झोंका लगते ही चल पड़ेगी। भगवान्‌की दयालुतापर विश्वास करो। जो दुःख, कष्ट और विपत्तियाँ आ रही हैं, उन्हें भगवत्कृपाका आशीर्वाद समझो और प्रत्येक कष्टके रूपमें कृष्ण-कन्हैयाके दर्शन कर उन्हें अपनी सारी सत्ता समर्पण करनेकी चेष्टा करो, कष्टोंको कृष्णरूपमें वरण करो, सिर चढ़ाओ, आलिङ्गन करो। परन्तु उनसे छूटनेके लिये कभी भूलकर भी कुमार्गपर चलने-की कायरताके वश मत होओ; लड़ते रहो—मनकी बुरी वृत्तियों से—ऐसा करोगे तो श्रीकृष्णकृपासे तुम्हारी एक दिन अवश्य विजय होगी, तुम सुखी होओगे। मैं भी चाहता हूँ तुमसे मिलना हो। परन्तु संयोग ईश्वराधीन है। मेरे दिलको तुम अपने साथ समझो। तुम्हारी स्मृति मुझे बार-बार होती है। तुम हर हालतमें मेरे प्रिय हो और रहोगे। शरीर और मनसे प्रसन्न रहनेकी निरन्तर चेष्टा करते रहो। भगवान्‌के नामका जप सदा करते रहो और उसे उत्तरोत्तर बढ़ाओ।

—:o:—

(४२)

भगवान्‌के विधानमें आनन्द

सादर हरिस्मरण! आपके कई पत्र आये, मैं समयपर उत्तर नहीं दे सका। कोई विचार न करें। एजेन्सीका काम न होनेपर

आपने जिस भावसे इसको ग्रहण किया, वह बहुत ही ठीक है। कर्मके प्रत्येक फलमें इसी प्रकार भगवान्‌की दयाको देखना चाहिये। आपने लिखा कि 'जैसे नारदजीको भगवान्‌ने विवाह नहीं करने दिया, वैसे ही मुझको भी इस काममें सफल नहीं किया। काम हो जाता तो मैं फंस जाता!' सो ठीक ही है। ऐसा ही मानना चाहिये। काम होने पर यह विचार करना चाहिये कि 'यह मेरे पुरुषार्थका फल नहीं है और मुझे इसमें कोई आसक्ति या फल-कामना भी नहीं है। भगवान्‌ने इस काममें दया करके ही मुझे नियुक्त कर दिया है। अतएव भगवान्‌के आज्ञानुसार भगवान्‌की प्रीतिके लिये उत्साह, सावधानी और धर्मपूर्वक सत्य और न्यायको साथ रखते हुए मैं यह सेवा करूँगा।' और न होनेपर-'न होनेमें ही कल्याण है, इसीलिये भगवान्‌ने नहीं होने दिया।' यह विश्वास करके आनन्दमग्न रहना चाहिये। 'होने' और 'न होने' दोनोंमें ही हर्ष-विषादका विकार न होकर दोनोंमें ही भगवान्‌की कृपाका अनुभव करना चाहिये। 'न होनेमें' जैसे दुःखका विकार होता है वैसे ही 'होनेमें' सुखका विकार होता है। विकार होते ही भगवान्‌की विस्मृति हो जाती है 'न होनेमें' तो भगवान्‌का स्मरण होता भी है; परन्तु 'होनेमें' भगवान्‌का स्मरण छूटना बहुत सहज है। अतएव किसी भी हालतमें मनमें विकार न होकर सदा प्रभुकी स्मृति बनी रहे और प्रभुका स्मरण करते हुए ही प्रभु के सौंपे हुए कार्यको प्रसन्नतापूर्वक करें। ऐसी ही भक्तकी धारणा होनी चाहिये। मेरी धारणामें भी आपके यह काम न होना अच्छा ही हुआ। मैंने बहुत डरते हुए ही सिफारिश की थी।

आपकी यह प्रार्थना भी बहुत ही सुन्दर है कि 'भगवान् सब जीवोंपर पूर्ण दया करके एक बार अपना लें और भगवान्‌की सच्ची भक्तिका प्रचार सारे विश्वमें हो जाय।' बड़ी ही सद्भावना है। परन्तु यह ज्ञान रखना चाहिये कि सभी जीवोंपर सदा ही भगवान्‌की पूर्ण दया है। हाँ, भक्तिका प्रचार होनेसे ही सब जीव इस दयाको समझ सकते हैं। भक्तिका प्रचार हो—इस प्रकारकी भावना करना बहुत उत्तम है ही। परन्तु साथ ही भगवत्कृपाका अनुभव करते हुए हमलोग भक्त बनते रहें तो एक-एक करके विश्वके सभी लोग भक्त बन सकते हैं। भगवान् तो भक्तिके प्रचारमें सहायक होंगे ही। परन्तु भक्ति प्रचारको वस्तु है नहीं। यही बड़ी अड़चन है। वह तो करनेकी चीज है। आपका स्वास्थ्य अच्छा होगा।

(४४)

सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखो

आपके कई पत्र मिल चुके। मेरा स्वाभाविक आलस्य आप जानते ही हैं। इसके सिवा इधर कामकी भी भीड़ रही। सर्वत्र सबमें भगवान्‌को देखनेका प्रयत्न करना और यथासाध्य अधिकाधिक भगवान्‌का स्मरण करना एवं स्मरण होनेपर न भूलनेकी चेष्टा करना—ये बड़े ही उत्तम साधन हैं। सर्वत्र सबमें परमात्माको देखनेके साधनसे बहुत ही शीघ्र जीवन पलट सकता है। पाप, ताप, छल, द्रोह, दम्भ, वैर आदिका आप ही नाश हो जाता है। जो सामने आया, तत्काल उसीमें भगवान् हैं, ऐसा स्मरण हो आनेसे

उसके साथ दूषित वर्ताव हो ही नहीं सकता। नाटकमें नाटकका स्वामी या अपना साक्षात् पिता भी शिष्य बनकर आ सकता है। उसको स्वामी या पिता पहचानते हुए जो शिक्षकका नाट्य किया जाता है, वह स्वामीके आज्ञानुसार लीलावत् ही होता है। उसमें दोष प्रायः आ ही नहीं सकता। इसी प्रकार आप भी विद्यार्थियोंको 'उनमें भगवान् हैं या स्वयं भगवान् ही उन स्वरूपोंमें प्रकट हो रहे हैं', ऐसा समझकर उन्हें पढ़ाइये। यही व्यवहार घरके लोगों, मित्रों, सम्बन्धियों, नौकरों आदिके साथ कीजिये तो बहुत ही शीघ्र समस्त दोषोंका ध्वंस सम्भव है। चित्तमें अपूर्व शान्ति और आनन्द तो इस साधनके संगी ही हैं। 'वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥' (गीता ७ । १९) दूसरोंके साथ बुरा बर्ताव, विषम व्यवहार तभीतक होता है जबतक हम उन्हें आत्मासे अतिरिक्त कोई दूसरा समझते हैं। जब हम यह देखेंगे कि ये सब तो हमारे आत्मा ही हैं, तब बुरा बर्ताव कैसे होगा ? अपने प्रति क्या कभी कोई बुरा बर्ताव करता है ? फिर; जब वे हमें भगवान् दीखेंगे, तब तो हमारे पूज्य और सब प्रकारसे सेवाके योग्य बन जायँगे।

—:०:—

(४९)

नाम-जपकी महत्ता

सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला। स्थिति लिखी सो ठीक है। सच्ची बात यह है कि डटकर भजन नहीं बनता। भजन बने बिना विषयोंकी आसक्तिरूप अन्तःकरणका दोष नष्ट नहीं होता,

और जबतक विषयासक्ति रहती है, तबतक मन्दिरमें बैठकर ठाकुरजीकी पूजा करनेमें भी विषय ही ठाकुरजी बने रहते हैं; इसलिये वह भगवत्पूजन न होकर प्रकारान्तरसे विषयसेवन ही होता है। फिर दूकान-कारखाने आदिके काममें तो भगवद्बुद्धि होना बहुत कठिन है। भूलसे कभी-कभी मान लेते हैं—भगवत्-सेवन हो रहा है; परन्तु हृदयके भीतर घुसकर देखनेपर पता लगता है—शुद्ध विषय-सेवन ही है। होना चाहिये जगत्का विस्मरण होकर एकमात्र भगवान्का स्मरण, होता है भगवान्का विस्मरण होकर विषयोंका स्मरण। यही हालत है। कलियुग है। वातावरण बहुत अशुद्ध है। सभी क्षेत्रोंमें दम्भ, दूकानदारी, दिखौआपन आ गया है। अतएव भजनके सिवा और कोई भी उपाय नजर नहीं आता। मन लगे, न लगे, किसी प्रकार भी यदि चौबीस घंटेमें सब मिलकर १८ घंटे नामजप होता रहे तो उसके लिये चेष्टा करनी चाहिये। भक्त लोग तो आठ पहरमें साढ़े सात पहर भजन किया करते थे। श्रीचैतन्यचरितामृतमें कहा है—

> साढ़े सात पहर जाय भजिर साधने।
> चारि दण्ड विश्राम ताओ नाहे कोनो दीने॥

न काम छोड़कर अलग बैठ सकते हैं, बैठनेसे भी क्या होगा? भजनका अभ्यास न होगा तो नींद, आलस्य और प्रमादमें समय बीतेगा! अब जहाँ बड़े-बड़े कामोंके लिये राग-द्वेष होते हैं फिर छोटी-छोटी बातोंके लिये होने लगेंगे। घर बड़ा हो या छोटा—है घर ही, और राग-द्वेष अपने साथ हैं ही। कहीं भी चले जायँ, कितनी ही बड़ी या छोटी-से-छोटी दुनियामें रहें, ये राग-द्वेष अपना

काम करते ही रहेंगे। अतएव अभी जिस दुनियामें हैं, इसीमें रह-कर नाम-जप बढ़ाना चाहिये। बस, इसके लिये लाज-शरम छोड़कर अभ्यास डालना चाहिये। मुँहसे उच्चारण होता ही रहे। नामजप होता रहेगा तो नामके प्रभावसे बाकी बातें आप ही हो जायँगी। न होंगी तो भी आपत्ति नहीं। यदि भगवान्‌का नाम जपते-जपते मृत्यु हो जायगी तो भी जीवन सफल ही है। अधिक क्या लिखूं!

सबसे यथायोग्य सप्रेम कहियेगा। भजन जैसा चाहता हूँ, बनता नहीं है। चेष्टा कर रहा हूँ। भगवत्कृपापर भरोसा है। अपनेमें तो कोई बल है नहीं।

(४६)

वास्तविक भजनका स्वरूप

कृपापत्र मिला। आप श्रीभगवान्‌का भजन करना चाहते हैं, अपनी शक्तिभर करते भी हैं परन्तु जैसा चाहिये वैसा नहीं बनता, इस बातसे आपको बड़ा दुःख रहता है, सो यह बड़ी ही अच्छी धारणा है। शक्तिभर भजन करनेमें त्रुटि न होने दे और सदा अपने भजनमें कमी ही देखता रहे, इसीसे तो भजन बढ़ता है और उसमें उच्च भावोंका संयोग होता है। मेरे लिये पूछा सो मैं क्या बताऊँ? मुझसे यदि यथार्थरूपसे भजन बनता तो मेरी स्थिति कुछ दूसरी ही होती। फिर तो आपके लिखनेके अनुसार अवश्य ही मेरे दर्शन और स्मरणमात्रसे आपका कल्याण हो जाता। परन्तु मैं वैसा हूँ ही नहीं। आप सच मानिये, मैं देखता हूँ, मेरे मनमें असंख्य

वासनाएँ भरी हैं। मैं अपने मनको श्रीभगवान्‌के चिन्तनमें ही लगाये रखना चाहता हूँ और यत्किञ्चित् चेष्टा भी करता हूँ, परन्तु मेरा दुष्ट मन अनन्यभाक् होकर भगवच्चिन्तनमें लगता ही नहीं। मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌की मुझपर अनन्त कृपा है। मुझसे जो कुछ भजन बनता है; सब उस महान् कृपाके कारण ही बनता है। यह भी देखता हूँ कि भजनसे मेरा चित्त ऊबता नहीं, भगवत्कृपा मुझे बार-बार उत्साह दिलाती है। भजनके बदलेमें किसी दूसरी वस्तुके पानेकी कामना भी मनमें प्रायः नहीं देखता, भजनसे भजनकी ही सिद्धि चाहता हूँ; भजनकी सिद्धिका तात्पर्य यह कि बस, लगातार तैलधारावत् भजन ही होता रहे और मन, बुद्धि, प्राण, शरीर सब उसीमें तल्लीन हो जायँ। परन्तु अभी वैसा हो नहीं पाता, इसी बातका बड़ा दुःख है; मन भाँति-भाँतिके फरेब करके धोखा देता है। ऐसी हालतमें अवश्य ही निराश तो कभी नहीं होता, क्योंकि हँसती हुई भगवत्कृपाको निरन्तर मैं अपने मस्तकपर हाथ धरे देखता हूँ, परन्तु अपने मनकी नीचतापर बड़ा दुखी होता हूँ कि कहाँ तो भगवत्-कृपाकी मुझपर इतनी अनुकम्पा, और कहाँ मेरा नीच और कृतघ्न मन, जो अब भी सब कुछ छोड़कर—सबसे नाता तोड़कर, सारे संस्कारोंको त्याग कर केवल भगवच्चिन्तनमें ही नहीं लग जाता। मेरी वह दशा कब होगी जब मैं—उनके चिन्तनमें सब कुछ भुलाकर—केवल उन्हींकी याद करूँगा और याद करते-करते याद करनेवाले अपनेको भी भूल जाऊँगा।
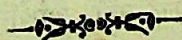
प्रेमसे होनेवाला भजन

भगवान्‌में प्रेम होनेपर उनका नाम इतना प्रिय लगता है कि फिर भुलाये भी नहीं भूलता, छुड़ाये भी नहीं छूटता। भगवान्‌में प्रेम बढ़े। इसके लिये भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये और नाम-जप किसी भी भावसे करते चले जाइये। जब नाममें यथार्थ रुचि हो जायगी—नामकी पूरी मिठास आ जायगी; फिर तो नाम-जप अपने-आप होगा। फिर संख्याकी जरूरत नहीं होगी। संसार-सागर-से पार होनेका उपाय तो भगवान्‌का सहारा ही है। भगवान्‌ने कहा है—'जो मुझमें मन लगाकर मेरा भजन करते हैं, उनको संसार-सागरसे मैं स्वयं बहुत जल्दी पार कर देता हूँ।' भगवान् स्वयं पार करनेको तैयार हैं, फिर और क्या चाहिये। आप मन लगाकर भजन करनेकी चेष्टा कीजिये। असल बात तो यह है कि आप पार होनेकी बात भी क्यों सोचते हैं? इस पार रहें या उस पार, यदि भगवान्‌का प्रेमसे भजन होता है तो दोनों ही पार उत्तम और आनन्दमय है। नरक-यन्त्रणा भोगते हुए भी यदि भजन हो तो उत्तम है, तथा ऊँची-से-ऊँची गतिमें भी यदि भजन छूट जाय तो वह निकृष्ट और दुःखमयी है। इसीसे गोसाईंजीने कहा है—

> अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान।
> जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

वे हमें इस संसार-सागरमें ही रक्खें, कोई आपत्ति नहीं; परन्तु हृदयमेंसे कभी निकलें नहीं, आँखोंसे कभी ओझल न हों।

हमें मुक्तिसे क्या प्रयोजन है। हमें तो प्रयोजन होना चाहिये उनके पादपद्मोंसे, उनके प्रेमसे, उनके स्मरणसे; फिर चाहे वे कहीं किसी भी हालतमें कैसे ही रक्खें।

एकान्तमें रहकर भगवान्‌का भजन करनेका मन होता है, सो यह तो मनकी उत्तम वासना है। परंतु याद रहे, जंगलोंमें जानेसे ही प्रियतम श्रीकृष्ण नहीं मिलते। श्रीकृष्णको प्रियतमरूपसे प्राप्त करनेके लिये तो गोपी-हृदयकी जरूरत है। गोपी-हृदय प्राप्त करनेकी साधना कीजिये। सारा प्रेम सब जगहसे हटाकर भुक्ति और मुक्तिकी लालसा जरा भी न रखकर उनसे अहैतुक प्रेम कीजिये। दिन-रात उनका चिन्तन कीजिये। करते-करते उनकी कृपासे जब गोपी-हृदयकी प्राप्ति होगी तब प्रियतमरूपसे वे प्राप्त हो सकेंगे। घबराइये नहीं। परंतु एक क्षण भी उनका विस्मरण न होने दीजिये।

---

(४८)

भजन—साधन और साध्य

सप्रेम हरिस्मरण ! भजन-साधनकी स्थिति लिखी, सो ठीक है। जब सत्त्वगुणका आधिक्य होता है, तब भजन अधिक होता है। रजोगुणकी अधिकतासे सांसारिक कार्योंमें विशेष मन लगता है और तमोगुणमें आलस्यकी प्रधानता रहती है। गुण अनेकों कारणोंसे घटते-बढ़ते रहते हैं—पूर्वसंस्कार, प्रारब्ध, वातावरण, अन्न, जल, संग, अध्ययन आदि अनेकों कारण हैं। विषयोंमें मन अनादि कालसे

उलझा है। बड़ा अभ्यास है विषयचिन्तन और विषयसेवनका। असंख्य जीवनोंका यह अभ्यास यदि एक मानव-जीवनमें बदल जाय तो भगवान्‌की बड़ी कृपा समझनी चाहिये। कुछ महीनों या वर्षोंमें पूरा लाभ न हो तो निराश नहीं होना चाहिये। सत्सङ्ग, शुद्ध वातावरण, भजन आदिमें लाभ तो हुआ ही है। यह तो मानना ही पड़ेगा। यह ठीक है कि पूरी तत्परता नहीं आयी और न पूरी इच्छा ही हुई भगवान्‌की ओर बढ़नेकी। करते चले जाइये–भजन। तत्परता आप ही आवेगी, और जब पूरी इच्छा हो जायगी, तब तो फिर कुछ करना शेष नहीं रह जायगा। पूरी इच्छा होनेकी ही देर है। पूरी इच्छा होनेपर भगवान् तत्काल ही उसे पूरी (सफल) भी कर देते हैं। बात सुननेसे ही काम नहीं चलता, सुननेके साथ ही करना चाहिये। करते-करते कभी-न-कभी काम बन ही जायगा। बस, ऐसी बात यह एक ही है। करते जाइये और विश्वास कीजिये, निश्चय कीजिये कि काम बन ही जायगा।

राम राम रटते रहो जब लग घटमें प्रान।
कबहूँ दीनदयालके भनक परेगी कान॥

भजन करते-करते जब भजनका बाह्य भाव न रहकर बिल्कुल आन्तरिक हो जायगा, भजनमें मन रमेगा, उसमें आनन्दकी उपलब्धि होगी, तब यथार्थ भजन होगा। एक भजन होता है साधनरूप, एक होता है साध्य। अभी साधनरूप भजन भी पूरा नहीं हो पाया है। साधनरूप भजन करते-करते जब वह स्वाभाविक होकर

अन्तरसे होने लगेगा, जब माला-नियमकी जरा भी जरूरत नहीं रहेगी, अपने-आप ही भजनमें मन लगा रहेगा, तब उसे साध्य-रूप प्राप्त होगा; फिर छूटेगा नहीं। यह स्थिति इसी जन्ममें हो सकती है। आपके मनमें भगवत्कृपापर—भगवान्की अचिन्त्य दया-शक्तिपर विश्वास होना चाहिये। मनमें विश्वास करके जैसे बने वैसे ही लगनसे, बेलगनसे भजन करते जाइये। भगवत्-कृपासे आप ही कल्याण होगा। भगवत्कृपा और भजनका महान् शक्तिके सम्बन्धमें जरा भी सन्देह न आने दें। इधर पत्र बहुत इकट्ठे हो गये, इससे संक्षेपमें ही उत्तर लिखा है।

(४९)

शरीरका मोह छोड़कर भजन करना चाहिये

सप्रेम हरिस्मरण! शरीरकी जरा भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये। शरीरसे भगवान्का भजन और भगवत्स्वरूप जगत्के प्राणियोंकी सेवा बने, तभी शरीरकी सार्थकता है। नहीं तो, शरीर नरक-तुल्य है और ऐसे शरीरको धारण किये रहना नरकरूपसे ही जीना है। श्रीशंकराचार्यजीने कहा है—'को वास्ति घोरो नरकः स्वदेहः।' और तुलसीदासजी महाराज कहते हैं–'ते नर नरकरूप जीवत जग भव-भंजन-पद-बिमुख अभागी।' जबतक शरीर भीषण रोगोंसे आक्रान्त नहीं हो जाता, तबतक इससे भजन और सेवाका काम भलीभाँति लेना चाहिये। आरामतलबी बहुत बुरी है। रात-दिन शरीरको धोने-पोंछने और सजानेमें लगे रहना, और इसीकी चिन्तामें रमे रहना जरा भी बुद्धिमानी नहीं है।

अमेध्यपूर्णे कृमिजालसङ्कुले
स्वभावदुर्गन्धिविनिन्दितान्तरे।
कलेवरे मूत्रपुरीषभाविते
रमन्ति मूढा विरमन्ति पण्डिताः ॥

ऐसे रक्त-मांस, मज्जा और कीटाणुओंसे भरे, दुर्गन्धिपूर्ण मल-मूत्रसे युक्त शरीरके लिये, उसके भोगविलासके लिये भगवान्‌को भूले रहना बहुत बड़ी मूर्खता है। शरीर और शरीरका सुख कितने दिनोंका है ? जन्म-मृत्यु और जरा-व्याधिसे ग्रस्त इस देहका कोई भरोसा नहीं, कब नष्ट हो जाय। इसमें और इसके सम्बन्धी विषयोंमें सुख समझना सर्वथा मोहका ही कार्य है। खेदको बात तो यही है कि मनुष्य शरीरको सेवामें और इसके लिये भोगोंके जुटानेमें ही दिन-रात व्यस्त रहता है, उसे स्वाद, शौकोनी, धन-पुत्र, स्त्रीसुख आदिमें ही रसकी भ्रान्त अनुभूति होती है। अप्राकृत भगवदीय प्रेमरसके तो समीप भी वह नहीं जाना चाहता। कितने दुःखकी बात है यह कि मनुष्य जान-बूझकर नरकको और उसकी दीर्घकालव्यापिनी यन्त्रणाओंको तो सिर चढ़ाकर स्वीकार कर लेता है, परंतु जिसकी जरा-सी झाँकीसे सारे दुःख सदाके लिये मिट जाते हैं, जिसके ध्यानमात्रसे प्राणोंमें अमृतका झरना फूट निकलता है, जिसकी लीला-कथाके कथन और श्रवणका प्रेम अनन्त जीभों और कानोंकी अदम्य कामनाएँ जगा देता है, जिसके रूप, गुण और नामकी महिमा जीवको नरकोंसे निकालकर दिव्यधाममें पहुँचा देती है, उस भगवान्‌से सदा दूर रहना चाहता है !

आपसे यही प्रार्थना है कि आप इस बातको अच्छी तरह समझिये और शरीरका मोह छोड़कर उसे आरामतलबीसे छुड़ाकर भगवान्‌की सेवामें लगानेका प्रयत्न कीजिये। निश्चित समझिये—शरीरके पालन-पोषणमात्रसे कभी सुख नहीं मिलेगा। न तो यह हजार पालन-पोषण करनेपर भी बीमारी और मौतसे ही बचा रहेगा और न इसकी सेवा आपको सुख-शान्ति ही देगी। शरीरका पालन-पोषण तो कुत्ते-सूअर आदि भी करते हैं, वे भी खाते, पीते, सोते और मैथुन करते हैं। जो मनुष्य भगवान्‌का भजन नहीं करता वह तो दर-दर दुरदुराये जानेवाले कुत्ते, इधर-उधर मल खाकर भटकनेवाले सूअर, काँटे खाकर जीनेवाले ऊँट और दिन-रात बोझ ढोनेवाले गधेके समान ही है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—वह हृदय पत्थरके तुल्य है जो भगवान्‌के नाम-गुणकीर्तनको सुनकर गद्‌गद नहीं होता, जिसके शरीरमें रोमाञ्च नहीं होता और आँखोंमें आनन्दके आँसू नहीं उमड़ आते। गोसाइंजी महाराजने कहा है—

> हिय फाटहु फूटहु नयन जरउ सो तन केहि काम।
> द्रवइ स्रवइ पुलकइ नहीं तुलसी सुमिरत राम॥

---

(८०)

वैराग्य और भजन कैसे हो ?

× × × × आपका एक पत्र पहले मिला था। कुछ दिन बाद दूसरा भी मिला। पहले पत्रका जवाब नहीं दिया जा सका, इसके लिये किसी प्रकारका विचार नहीं करना चाहिये। आप मेरे

पत्रकी प्रतीक्षा करते रहते हैं, यह आपके बड़े प्रेमकी बात है। इतना प्रेम करनेवाले प्रेमियोंको मैं समयपर उनके पत्रका उत्तर भी नहीं लिख पाता, इस अपराधसे छूटनेके लिये भी प्रेमियोंके प्रेमका ही भरोसा है। अपनी शक्तिसे तो कुछ होता नहीं दीखता। प्रेमके सामने कोई शक्ति कुछ काम भी नहीं करती। 'हर समय वैराग्य बना रहे तथा भगवान्‌का स्मरण होता रहे।' इस तरहकी आपकी अभिलाषा बहुत ही सराहनीय है। जगत्‌की अनित्यता, दुःखरूपता और भयानकताका अच्छी तरह ज्ञान होनेके बाद जगत्‌के पदार्थोंमें आसक्ति नहीं रहती। जबतक इनमें नित्यता, सुख और रमणीयता भासती है तभीतक इनमें राग है। इसके लिये बार-बार संसारके भोगोंमें, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधिरूप दुःख-दोष देखना चाहिये तथा सत्सङ्ग, विचार और विवेकके द्वारा रमणीयता, सुख और नित्यताका बाध करना चाहिये। वास्तवमें ये सब विषय जिस रूपमें दीखते हैं, उस रूपमें हैं ही नहीं। हमें अपनी मोहाच्छादित दृष्टिके कारण ही इनका स्वरूप यथार्थ नहीं दीखता, इसीसे इनमें फँसावट हो रही है। जहरसे भरे हुए नकली सोनेके घड़ेके समान, अथवा सुगन्धित इत्र आदि वस्तुओंसे ढकी हुई विष्ठाके समान अथवा सोनेकी खोलीसे मढ़े हुए जहरीले सर्पके समान, अथवा राखसे ढकी हुई प्रबल अग्निके समान संसारके विषय बार-बार मृत्यु देनेवाले, घृणित, जहरीले तथा जलानेवाले हैं। इस प्रकार समझकर—तथा इनकी परिवर्तनशीलता, क्षणभङ्गुरता, दृष्टिभेदसे अनुकूल एवं प्रतिकूलरूपता, वियोगशीलता, मृत्युमयता आदिपर विचार करके इनसे मन हटाना चाहिये। इनका रूप जब ठीक-ठीक समझमें आ जायगा तब इनमेंसे राग निकलकर

आप ही इनसे वैराग्य हो जायगा। फिर जिस प्रकार हम जान-बूझकर अफीम नहीं खाते, अग्निमें हाथ नहीं डालते, साँपको हाथमें नहीं लेते, विष्ठाको नहीं छूते—इसी प्रकार विषयोंसे अलग हो जायँगे। इनमें प्रीति होना तथा इन्हें ग्रहण करना तो अलग रहा—इनका चिन्तन भी हमें नहीं सुहावेगा। विषयोंकी चर्चा भी खारी लगने लगेगी।

इसी प्रकार भगवान्‌का स्मरण न होनेमें भी प्रधान कारण भगवान्‌के यथार्थ तत्त्व, प्रभाव, रहस्य, महिमा और गुणोंके ज्ञानका अभाव ही है। श्रीभगवान्‌के एक भी गुणका रहस्य, एक भी नामकी महिमा, एक भी चरित्रका प्रभाव, एक भी शक्तिका तत्त्व जान लिया जाय अथवा एक भी रूपकी जरा-सी भी झाँकीका ज्ञान भी हो जाय तो फिर भगवान्‌से क्षणभरके लिये भी चित्त न हटे। फिर विषयोंमें दुःख-दोष देखकर उनसे चित्त हटानेकी आवश्यकता नहीं रहती, अपने-आप ही विषयोंमें आसक्ति नष्ट हो जाती है। जिस प्रकार सूर्य भगवान्‌के उदय होनेपर दीपककी ओर कोई आकर्षण नहीं रहता, इसी प्रकार भगवान्‌की जरा भी झाँकी होनेके बाद विषयोंका सब रस फीका हो जाता है। असल बात तो यह है कि फिर उसकी तात्त्विक दृष्टिमें विषयोंका अस्तित्व ही नहीं रहता। एकमात्र सच्चिदानन्दघन भगवान्‌की ही अखण्ड, अचल, सनातन, अज, अविनाशी, सर्वव्यापिनी सत्ता रह जाती है। उसे फिर आनन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ नहीं भासता। इस अवस्थामें उससे परमात्माका असली भजन अपने-आप ही होने लगता है।

वास्तवमें सूर्य और दीपकके उदाहरणकी तुलना परमात्माके ज्ञान और विषयोंके साथ नहीं हो सकती, तथापि समझनेके लिये उदाहरण दिया जाता है।

संसारके विषयोंका स्वरूप तथा परमात्माकी महिमाको यथार्थ रूपसे जाननेके लिये सत्सङ्ग तथा भजन ही प्रधान साधन है। वैराग्यवान् सच्चे विरक्त, अनन्य भगवत्प्रेमी और सम्यग्दर्शी ज्ञानियोंके सत्सङ्गसे विषयोंकी तथा भगवान्‌की स्वरूप-स्थिति सुनने-जाननेमें आती है। फिर भजन करनेसे मलका नाश होनेपर सुनी तथा जानी हुई बातोंको हृदय ग्रहण करता है। इसलिये जहाँतक बन पड़े सर्वस्व त्याग कर भी भजन तथा सत्सङ्गके लिये मनुष्यको पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

हर समय नामजप कैसे हो ?

'हर समय भगवान्‌के नामका जप हुआ करे' इसका उपाय पूछा सो स्वाभाविक नाम-स्मरण तो भगवान्‌का महत्त्व जाननेसे ही होता है। भगवान्‌के नामपर जितना-जितना विश्वास, प्रेम बढ़ता है, उतना-उतना ही नामजप अधिक हो सकता है। भगवान्‌के नाममें भूल होनेमें अभ्यासकी कमी भी कारण है; परन्तु प्रधान कारण तो विश्वास और प्रेमकी कमी ही समझना चाहिये। विश्वास तथा प्रेम भी भजन और सत्संगसे ही होते हैं। इसलिये सत्सङ्ग तथा नामजपरूपी भजनका ही विशेष अभ्यास करना चाहिये। भजन करते-करते— भगवान्‌के नामजपका अभ्यास करते-करते विश्वास बढ़कर नामजपमें अपने-आप ही प्रगति हो सकती है। नामजपमें असली उन्नति तभी

समझनी चाहिये, जब नाम-जपमें भूल नहीं हो तथा एक-एक नाममें ऐसा महान् आनन्द आवे कि जिसकी तुलना सम्राट्-पदकी प्राप्तिसे भी न हो सके तथा इतना प्रेम उपजे कि नामस्मरणके साथ ही रोमाञ्च, अश्रुपात, गद्गदवाणी आदि होने लगे।

महापुरुषकी महिमा

महापुरुषोंकी दयाके बावत लिखा सो तो ठीक है; परन्तु मुझे आप महापुरुष समझते हैं, यह आपकी गलती है। मैं तो साधारण आदमी हूँ, यों तो एकलव्य भीलने पत्थरकी मूर्तिको भी अपनी श्रद्धासे द्रोणाचार्य समझ लिया था। इसी तरह आप किसीमें भी महापुरुषकी भावना कर सकते हैं; किन्तु सचमुच मैं तो महापुरुषोंकी चरणधूलिका भिखारीमात्र हूँ। रही महापुरुषोंकी दयाकी बात, सो महापुरुषोंकी तो सभीपर स्वाभाविक दया सर्वदा रहती है, किसीको सच्चे महापुरुष मिल जायँ तो उसका सहज ही कल्याण हो सकता है। उनके महापुरुषत्वपर और उनकी दयापर विश्वास करनेवाला और उनकी आज्ञा और रुचिके अनुसार आचरण करनेवाला एक-से-एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है। अपनेको महापुरुषकी शरण कर दे तथा महापुरुषकी रुचिके अनुसार जीवन बना ले, तब तो उसी क्षण कल्याण हो जाय।

आपकी श्रीगङ्गाजीके तटपर जानेकी बहुत इच्छा होती है, सो श्रीगङ्गाजीका तट तो परम पवित्र है; एवं वहाँ निवास करना भी बड़े सौभाग्यका चिह्न है। परन्तु कभी कहीं जाने-आनेका सङ्कल्प न करके श्रीभगवान्‌के नामका जप विशेष प्रेम तथा विशुद्ध मुख्य

भावसे करनेकी चेष्टा करनी चाहिये। भगवान्‌के नामसे सब कुछ सहज ही हो सकता है।

---

(९१)

भक्तिका स्वरूप

सप्रेम हरिस्मरण ! आपका प्रेमभरा पत्र मिला। मेरे पत्रसे ही यदि आपको यह अनुमान हो गया कि न्यूनाधिक अंशमें शीघ्र ही भगवान्‌की दया होकर आपका उद्धार हो जायगा, तब तो मेरे पत्रका वस्तुतः बड़ा ही महत्त्व है। परन्तु ऐसी बात समझमें आती नहीं या तो आप भ्रममें हैं या मेरा मखौल कर रहे हैं। भक्तोंकी दया तो स्वाभाविक ही सबपर होती है। 'अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।' (गीता १२।१३) यह उनका स्वभाव है। 'कोई भक्त भी हो और वह दयामें कंजूसी भी करे।' यह तो वैसी ही बात है कि सूर्य है परन्तु उसमें प्रकाश देनेकी उदारता नहीं है। हाँ, आपने यह भूल जरूर की कि मुझ-सरीखे प्राणीके लिये भगवद्भक्त होनेका अनुमान कर लिया, इसीलिये आपको कंजूसी भी दिखायी दी; परन्तु यह तो कंजूसी नहीं है—वस्तुस्थिति ही है। जो स्वयं दरिद्र हो वह किसीको क्या दे। उसे जैसे धनी माननेवाले भूलमें होते हैं, मुझे यदि आप भक्त मानते हैं तो वैसी ही भूल आप भी करते हैं। जबतक चित्तवृत्तिका प्रवाह सम्पूर्ण रूपसे भगवान्‌की ओर नहीं बहता, जबतक जीवनकी प्रत्येक क्रिया और चेष्टा केवल भगवदर्थं ही नहीं होती, जबतक जीवन भगवान्‌के इशारेपर नाचनेवाली कठपुतली नहीं बन जाता, जबतक जीवन प्रार्थनामय नहीं बन जाता और जबतक दैवी

सम्पत्तिके गुण स्वाभाविक ही हृदयमें डेरा नहीं कर लेते, तबतक मैं कैसे मानूँ कि मुझमें भगवद्भक्ति है। हाँ, आपलोगोंकी भावनासे मुझे लाभ अवश्य हो सकता है और आपकी ऐसी भावनाके लिये मुझे आपका कृतज्ञ होना चाहिये।

बोझ भगवान्‌पर डाल दीजिये

'तमाम बोझ सम्हालनेवाले' तो एकमात्र श्रीभगवान् हैं, यदि हम उनपर अपना बोझ छोड़ सकें। छोड़ दीजिये न ! बिलकुल हलके हो जाइयेगा। अवश्य ही उनपर सब बोझ छोड़ देनेपर आप प्रायश्चित्तके भागी नहीं होंगे, यह निश्चित बात है। हाँ, बोझ अपने सिरसे उतारे भी नहीं और उनको सौंप दिया बतलावें, तब तो बोझसे आप मरेंगे ही। बोझा तो उतारनेसे ही भार हटेगा, कहनेमात्रसे नहीं। यह अनुभव करके देख लीजिये। सभीको अनुभव है। बोझा उतारकर दूसरेको दिया कि हलके हुए ! जबतक हलके नहीं होते तबतक यह सिद्ध ही है कि बोझ सिरपर ही है, चाहे भूलसे माने नहीं।

—:o:—

(५२)

पराभक्ति साधन नहीं है

ज्ञान और भक्तिके विषयमें आपका जैसा विचार है, वह बहुत ठीक है। ज्ञानकी साधना तो गौणी भक्ति है। इस भक्तिसे सम्पन्न पुरुषको ही श्रीमद्भगवद्गीतामें 'जिज्ञासु भक्त' कहा है। जिसे भगवान्‌की पराभक्ति प्राप्त है, वह तो ज्ञानी ही होता है। पराभक्ति

स्वयं साध्य है। जिस प्रकार लोकमें एक महान् ऐश्वर्यशाली सम्राट् अपने प्रेमीको, उसकी इच्छा न होनेपर भी, स्वभावतः ही अपना गूढ़-से-गूढ़ रहस्य बता देता है, उसी प्रकार श्रीभगवान् अपने प्रेमी भक्तको भी स्वभावतः ही अपना परम ज्ञान दे देते हैं। इस प्रकार ज्ञानदानमें यद्यपि उसका प्रेम ही कारण होता है तथापि अपनी ओरसे उसके लिये उसकी तनिक भी प्रवृत्ति न होनेके कारण उसके प्रेमको ज्ञानका साधन कदापि नहीं कह सकते। उसका प्रधान लक्ष्य तो अपने प्रियतमसे प्रेम ही करना है। उसके लिये उसका तत्त्वज्ञान तो एक अन्यथासिद्ध पुरस्कारमात्र होता है। इस प्रकार प्राप्त हुए तत्त्वज्ञानका वह प्रेमी अपने प्रेमके सामने कुछ भी मूल्य नहीं करता, और बलात्कारसे प्राप्त हुए इस ब्रह्मानन्दकी उपेक्षा करके वह नित्य प्रेमानन्दमें ही निमग्न रहता है। इसीसे कहा है—'मुक्ति निरादरि भगति लुभाने।'

न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम्॥

इसके सिवा एक बात और है। किसी भी सच्चे साधकको इस बहसमें ही नहीं पड़ना चाहिये कि कौन साधन बड़ा है और कौन छोटा। उसकी प्रवृत्ति जिस ओर हो, उसीमें उसे श्रद्धापूर्वक लगे रहना चाहिये। कालान्तरमें उसीके द्वारा उसे सब साधनोंका रहस्य मालूम हो जायगा। आपका उद्देश्य यदि श्रीरघुनाथजीके चरणोंमें अनन्य प्रेम प्राप्त करना है तो आप इस पचड़ेमें न पड़कर उनका प्रेम प्राप्त करनेका ही प्रयत्न करें। आपकी इच्छा न होनेपर भी वे आपको अपना सर्वस्व समर्पण कर देंगे। यदि आप इस

आवश्यक कर्तव्यको भूलकर व्यर्थके खण्डन-मण्डनमें पड़ जायँगे तो न तो आपको प्रेम ही मिलेगा और न ज्ञान ही। अधिकारीभेदसे सभी साधन अपनी-अपनी जगह प्रधान होते हैं। इसलिये किसीको भी ऊँचा-नीचा नहीं कहा जा सकता।

आशा है, मेरी इस प्रार्थनापर ध्यान देकर आप श्रीरामकृपाकी प्राप्तिका ही प्रयत्न करेंगे और इस प्रकारके वाद-विवादोंसे दूर रहेंगे।

(५३)

उलटी राह

आपने लिखा मुझमें बुद्धि, धैर्य और उत्साह नहीं है, सो बड़ी अच्छी बात है। बुद्धि, धैर्य, उत्साह तो इस प्रेम-मार्गके बाधक हैं। इनका न होना ही शुभ लक्षण है। बुद्धिमान् मनुष्य तर्क-जालमें फँसकर प्रेमसे वञ्चित रह जाता है। उसकी बुद्धि, प्रेम तो दूर रहा, प्रेमास्पदका अस्तित्व ही मिटा देना चाहती है। धैर्य तो प्रेमीको कभी होता ही नहीं। उसका एक-एक पल युगके समान बीतता है। और उत्साह तो उसको हो जो प्रिय-मिलनका सुख प्राप्त कर रहा है। प्रिय-वियोगमें उत्साह कहाँ ? यहाँ तो केवल रोना ही शेष रह जाता है और रोते-रोते ही उम्र बीतती है। नींद-भूख भी रोनेमें बह जाती है। 'दिन नहिं भूख, रैन नहिं निदरा पियको बिरह सतावै।' वियोगकी तो कुछ ऐसी दशा होती है कि स्वप्नके दर्शन भी मिट जाते हैं।

नितके जागत मिटि गयो, वा सँग सुपन मिलाप।
चित्र दरसहूँ को लग्यो आँखिन आँसू पाप॥

रोग तो इस दशाका एक सुलक्षण है। तनुता, मलिनता, स्वरभंग, वैवर्ण्य, व्याधि, उन्माद, प्रलाप और प्रलय आदि तो इसके आवश्यक अङ्ग हैं।

नारायण घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम।
बिकल मूर्च्छा सिसकिबो ये मगके बिश्राम ॥

बस, अधीर होकर रोते रहिये। तनको सुखा दीजिये प्यारेके वियोगमें। जीते ही मर जाइये उसके विरहमें। यही तो परम सौभाग्य है।

विरही उसे दयालु क्यों मानने लगा? उसके लिये तो वह परम निष्ठुर है, निर्दय है, प्राणोंका ग्राहक है। परन्तु इतनेपर भी वह परम प्यारा है, वह परम दुःखदायी होनेपर भी उसके बिना चैन नहीं पड़ता। यही तो उसका जादू है।

सत्सङ्गकी इच्छा भी क्यों हो? सत्सङ्गमें तो उस निष्ठुरके ही गुण गाये जायँगे न? उस निपट निर्दयीमें भी कोई गुण है? हम क्यों सुनें उसके गुणोंको जो हमें इतना तरसाता है, मिलनेपर भी फिर वियोगका दूना दुःख साथ ही लेकर आता है! उस छलियेके भी गुणोंकी तारीफ होती है? भाँड़लोग तारीफ ही किया करते हैं। खुशामदियोंका यही पेशा है, वे करते रहें हमें इससे क्या? वियोगी विरहीकी यही मनोदशा तो उसकी साधनसम्पन्नताकी निशानी है।

अजब पागलपन है। सेवा-कुञ्जकी राह—सीधी-सी राह पूछी जाती है। होगा क्या उस कँटीली गैलमें जानेसे? वहाँ न शान्ति

है, न सुख है, न आराम है, न सन्तोष है, न ब्रह्मचर्य है, न ज्ञान है, न निष्कामभाव है, न निरभिमानिता है, न अपरिग्रह है और न वैराग्य है। जो कुछ है, सब इससे उलटा है। इसपर भी इच्छा हो तो सेवाकुञ्जकी सीधी राहपर जाइये। 'अनोखे अज्ञान'का सारा सामान-साज साथ लेकर निराले मोहके मार्गसे! जब पूर्णरूपसे मोहाच्छन्न हो जायँ तब समझिये कि राहपर आ गये। परन्तु अभी आपकी इस राहपर जानेकी इच्छा नहीं मालूम होती; क्योंकि अभी तो आप 'अज्ञान कब दूर होगा?' ऐसी प्रार्थना करते हैं। जब पाथेय ही नहीं होगा तो फिर चलेंगे किस बलपर?

यह तो उलटी राह है। जो सब तरहकी सुलटी राहपर चलनेके बाद, उनके फलस्वरूप मिलती है, सुलटी चलनेके बाद उलटी चलती है, यही तो पहेली है। इसका अर्थ ही रहस्य है, जो समझानेसे नहीं समझमें आता।

(५४)

'अर्थ' और 'अनर्थ'

आपका कृपापत्र मिला। आपने 'अर्थ' और 'अनर्थ' का भाव एवं अनर्थकी निवृत्तिका उपाय पूछा सो आपकी कृपा है। 'अर्थ' शब्दका अर्थ है 'प्रयोजन'। मनुष्यका प्रयोजन—उसकी चाह एक ही है, वह है असीम अपार अनन्त नित्य और पूर्ण आनन्द। इस आनन्दके बिना उसकी कभी तृप्ति नहीं होती। इसीलिये वह हर अवस्थामें अभावका अनुभव करता है। ऐसा पूर्ण आनन्द है एकमात्र

भगवान्‌में। भगवान् ही विशुद्ध आनन्दमय हैं। अतएव भगवत्प्राप्ति ही वस्तुतः 'अर्थ' है। यही परमार्थ है। एक संतने कहा है कि गीताका अर्थार्थी भक्त वस्तुतः इसी 'अर्थ' की कामना करता है। इसके विपरीत जो कुछ भी है सो सभी 'अनर्थ' है चाहे वह संसार-की दृष्टिमें अच्छा हो या बुरा। भगवान्‌को भूलकर जो कुछ भी पुण्य-पाप, सुख-दुःख, लाभ-हानि, हर्ष-शोक, प्राप्ति-विनाश और जीवन-मरण है—सभी अनर्थरूप है। भगवान्‌की प्राप्ति होती है भगव-त्तत्त्वका यथार्थ रहस्य जानकर उनकी भक्ति करनेसे—'भक्त्या त्वनन्यया लभ्यः' (गीता ८।२२) 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः' भक्त्या मामभिजानाति' (गीता १८।५५) आदि भगवद्वाक्य प्रसिद्ध हैं। भक्ति जब पूर्णत्वको प्राप्त हो जाती है तब इसीका नाम पराभक्ति या भगवत्-प्रेम हो जाता है। इस प्रेममें भगवान्‌के साथ कभी विछोह नहीं होता। यह प्रेम ही पूर्ण परम अर्थ है। इससे विपरीत ले जानेवाले या इस ओर आनेमें बाधा पहुँचानेवाले जितने भी काम या पदार्थ हैं वे सभी अनर्थ हैं। 'माधुर्यकादम्बरी' में चार प्रकारके अनर्थ बतलाये गये हैं—

(१) दुष्कृतोत्थ-(पापोंके परिणामस्वरूप पापमूलक विषया-सक्ति बढ़ जाती है। उससे मनुष्य सांसारिक भोगोंकी प्राप्ति तथा उनके भोगमें इतना उन्मत्त हो जाता है कि वह नित्य नये-नये पाप करनेमें गौरवका अनुभव करता है।)

(२) सुकृतोत्थ-(पुण्योंके फलस्वरूप मनुष्यको धन, जन, सम्मान, आराम आदि अनित्य भोगोंकी प्राप्ति होती है। तब उनमें उसकी ममता और आसक्ति इतनी बढ़ जाती है कि वह उन्हींमें

रमा रहता है तथा केवल उन्हींके भरण-पोषणकी चिन्ता करता है। भगवान्की ओर प्रवृत्त नहीं होना चाहता।)

(३) अपराधोत्थ-(भगवान्के नाम और स्वरूप आदिका अपराध होनेपर साधनमें विघ्न और प्रत्यवाय (विपरीत फल) उत्पन्न हो जाते हैं।)

(४) भक्त्युत्थ-(भक्तिमें लगनेपर मनुष्यकी कुछ प्रतिष्ठा बढ़ती है, लोगोंमें उसके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। इधर उसकी भोगवासना अभी मिटी नहीं, ऐसी हालतमें वह धन, मान, पूजा, प्रतिष्ठा आदिको स्वीकार करके उन्हींमें रत हो जाता है।)

इन चारों ही प्रकारके 'अनर्थों' की निवृत्ति सत्सङ्ग, सत्कर्म, नाम-जप और विनय तथा श्रद्धापूर्ण भगवत्सेवनसे होती है। अनर्थनिवृत्ति पाँच प्रकारकी मानी गयी है—'एकदेशवर्तिनी,' 'बहुदेशवर्तिनी,' 'प्रायिकी,' 'पूर्णा' और 'आत्यन्तिकी'। स्वल्प सत्सङ्ग आदिके प्रभावसे कुछ अंशमें जो अनर्थ छूटते हैं, यह 'एकदेशवर्तिनी' निवृत्ति है। अधिक अंशमें छूटनेपर उसे 'बहुदेश-वर्तिनी' कहते हैं। बहुत ही थोड़े-से अनर्थ शेष रह जायँ इसे 'प्रायिकी' कहते हैं, और अनर्थोंकी पूर्ण निवृत्ति हो जानेपर उसे 'पूर्णा' कहते हैं। पूर्णा निवृत्ति हो जानेपर भी जबतक भगवत्प्राप्ति नहीं हो जाती तबतक अनर्थका बीज नष्ट नहीं होता, इसलिये अभिमानजनित भक्तापराध आदि दुष्कर्मोंसे पुनः 'अनर्थ' की उत्पत्ति हो सकती है। परन्तु 'आत्यन्तिकी' निवृत्ति होनेपर अनर्थबीजका नाश हो जाता है। वह आत्यन्तिकी निवृत्ति है—प्रेमस्वरूप

भगवान्‌की प्राप्ति। यह पञ्चम तथा परम पुरुषार्थ है और यही यथार्थ परमार्थ है।

(५९)

रति, प्रेम और रागके तीन-तीन प्रकार

कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर संक्षेपमें इस प्रकार है—

भगवान् श्रीकृष्ण आनन्दमय हैं। उनकी प्रत्येक लीला आनन्दमयी है। उनकी मधुर लीलाको आनन्द-शृङ्गार भी कह सकते हैं। परन्तु इतना स्मरण रखना चाहिये कि उनका यह आनन्द-शृङ्गार मायिक जगत्‌की कामक्रीडा कदापि नहीं है। भगवान्‌की ह्लादिनी शक्ति श्रीराधिकाजी तथा उनकी स्वरूपभूता गोपियोंके साथ साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी परस्पर मिलनकी जो मधुर आकांक्षा है, उसीका नाम आप आनन्द-शृङ्गार रख सकते हैं। यह काम-गन्धरहित विशुद्ध प्रेम ही है। श्रीकृष्णकी लीलामें जिस 'काम' का नाम आया है वह 'अप्राकृत काम' है। 'साक्षान्मन्मथ-मन्मथः' भगवान्‌के सामने प्राकृत काम तो आ ही नहीं सकता।

वैष्णव भक्तोंने रतिके तीन प्रकार बतलाये हैं—'समर्था', 'समञ्जसा' और 'साधारणी'। 'समर्था' रति उसे कहते हैं, जिसमें श्रीकृष्णके सुखकी ही एकमात्र स्पृहा और चेष्टा रहती है। यह अप्राकृत है। और व्रजधाममें श्रीमती राधिकाजीमें ही इसका पूर्ण विकास माना जाता है। 'समञ्जसा' रति उसे कहते हैं, जिसमें

श्रीकृष्णके और अपने—दोनोंके सुखकी स्पृहा रहती है, और 'साधारणी' रति उसका नाम है जिसमें केवल अपने ही सुखकी आकांक्षा रहती है। इन तीनोंमें 'समर्था' रति सबसे श्रेष्ठ है। इसका प्रसार महाभावतक है। यही वास्तविक 'रस-साधना' है।

प्रेमके भी तीन भाव बतलाये गये हैं। 'मधुवत्', 'घृतवत्' और 'लाक्षावत्'। 'मधुभाव'का प्रेम वह है जो मधुकी भाँति स्वाभाविक ही मधुर है। जिसमें स्नेह, आदर, सम्मान, सेवा आदि अन्य किसी भावका न तो जरा-सा मिश्रण ही है और न आवश्यकता ही है। जो नित्य-निरन्तर अपने ही अनन्यभावमें आप ही प्रवाहित है। यह प्रेम होता है केवल प्रेमके ही लिये। इसमें प्रेमास्पदका सुख ही अपना परम सुख होता है। अपना कोई भिन्न सुख रहता ही नहीं। इस प्रेममें प्रेमास्पदका स्वार्थ ही अपना एकमात्र स्वार्थ होता है। पूर्ण आत्मसमर्पण ही इसका रहस्य है, और नित्यवर्धनशीलता ही इसका स्वभाव है। यह वस्तुतः अनिर्वचनीय भाव है।

'घृतभाव'का प्रेम वह है जिसमें पूर्ण स्वाद और माधुर्य उत्पन्न करनेके लिये घृतमें नमक, चीनी आदिकी भाँति अन्य रसोंके मिश्रणकी आवश्यकता है। साथ ही, घृत जैसे सर्दी पाकर कड़ा हो जाता है और गर्मी पाकर पिघल जाता है, वैसे ही विविध भावोंके सम्मिश्रणसे इस प्रेमके भी रंग बदलते रहते हैं। यह प्रेमास्पदके द्वारा आदर–सम्मान पाकर बढ़ता है और उपेक्षा–घृणा पाकर मर-सा जाता है। इसमें प्रेमी अपने प्रेमास्पदको सुखी तो

बनाना चाहता है, परन्तु स्वयं भी उसके द्वारा विविध भावोंमें सुख-की आकांक्षा रखता है। यदि प्रेमास्पदसे आदर-सम्मान नहीं मिलता तो यह प्रेम घट जाता है। इस प्रेममें स्वार्थका सर्वथा अभाव नहीं है। न इसमें पूर्ण समर्पण ही है।

'लाक्षाभाव'का प्रेम वह है, जो चपड़ेके समान स्वाभाविक ही रसहीन और कठोर होनेपर भी जैसे चपड़ा अग्निका स्पर्श पाकर पिघल जाता है; वैसे ही प्रेमास्पदको देखकर उदय होता है। प्रेमास्पदके द्वारा भोग-सुख प्राप्त करना ही इसका लक्ष्य होता है।

श्रीराधिकाजीके प्रेमको 'मधुवत्', चन्द्रावलीजी आदिके प्रेमको 'घृतवत्' और कुब्जा आदिके प्रेमको 'लाक्षावत्' कह सकते हैं।

इसी प्रकार रागके भी तीन प्रकार माने गये हैं—'मञ्जिष्ठा' 'कुसुमिका' और 'शिरीषा'।

'मञ्जिष्ठा' नामक लाल रंगकी चमकीली बेल जैसे धोनेपर या अन्य किसी प्रकारसे नष्ट नहीं होती और अपनी चमकके लिये किसी दूसरे वर्णकी भी अपेक्षा नहीं रखती, इसी प्रकार 'मञ्जिष्ठा' नामक राग भी निरन्तर स्वभावसे ही चमकता और बढ़ता रहता है। यह राग श्रीराधा-माधवके अंदर नित्य प्रतिष्ठित है। यह राग किसी भी भावके द्वारा विकारको प्राप्त नहीं होता। प्रेमोत्पादनके लिये इसमें किसी दूसरे हेतुकी आवश्यकता नहीं होती। यह अपने-आप ही उदय होता है और बिना किसी हेतुके आप ही निरन्तर बढ़ता रहता है।

'कुसुमिका' राग उसे कहते हैं जो कुसुम्बेके फूलके रंगकी तरह हृदयक्षेत्रको रंग देता है और मञ्जिष्ठा और शिरीषादि दूसरे

रागोंको अभिव्यञ्जित करके सुशोभित होता है। कुसुम्बेके फूलका रंग स्वयं पक्का नहीं होता। परन्तु किसी दूसरी कषाय वस्तुको साथ मिला देनेपर वह पक्का और चमकदार हो जाता है। वैसे ही यह राग भी श्रीकृष्णके मधुर मोहन सौन्दर्यादि कषायके द्वारा पक्का और चमकदार हो जाता है।

'शिरीषा' राग अल्पकालस्थायी होता है। जैसे नये खिले हुए शिरीषके पुष्पमें पीली-सी आभा दिखायी देती है, परन्तु कुछ ही समयमें वह नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह राग भी भोगसुखके समय उत्पन्न होता है और वियोगमें मुरझा जाता है। इसीसे इसका नाम 'शिरीषा' है।

जिनका जीवन श्रीकृष्ण-सुखके लिये है—उनकी रति 'समर्था', प्रेम 'मधुवत्' और राग 'मञ्जिष्ठा' होता है। जिनका दोनोंके सुखके लिये है—उनकी रति 'समञ्जसा', प्रेम 'घृतवत्' और राग 'कुसुम्भी' होता है, और जिनका प्रेम केवल निजेन्द्रियतृप्तिके लिये ही होता है—उनकी रति 'साधारणी', प्रेम 'लाक्षावत्' और राग 'शिरीषा' होता है। इनमें पहले भाव उत्तम, दूसरे मध्यम और तीसरे अधम हैं।

---

(५६)

विरह-सुख

× × × श्रीश्रीगौराङ्गदेवने कहा था—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

'गोविन्दके विरहमें मेरा एक निमेष भी युगोंके समान लंबा हो रहा है। ये दोनों आँखें सावनकी जलधाराके समान सर्वदा बरस रही हैं और सारा जगत् मेरे लिये सूना हो रहा है।'

इस दुःखपूर्ण विरहमें कितना असीम सुख है, इस बातका प्रेमशून्य हृदयसे कैसे अनुमान लगाया जाय ? विरही जलता है, पर इस जलनमें ही महान् शान्तिका अनुभव करता है। वह कभी इस जलनको मिटाना नहीं चाहता। वह मिलनमें उतना सुख नहीं मानता जितना विरहकी अग्निमें जलते रहनेमें मानता है। 'हा प्राणनाथ ! हा प्रियतम ! हा श्रीकृष्ण ! इस तरह रोते-कराहते जन्म-जन्मान्तर बीत जायँ। मैं मिलना नहीं चाहता, चाहता हूँ तुम्हारे विरहमें जी भरकर रोना और तुम्हारे वियोगकी आगमें जलते रहना। मुझे इसमें क्या सुख है इसको मैं ही जानता हूँ।'

बना रहे हमेशा यह विरह-दुख दिवाना,
मैं जानता हूँ इसमें कितना मज़ा मुझे है।

× × ×

खुदा करे कि मज़ा इंतज़ारका न मिटे;
मेरे सवालका वह दे जवाब बरसोंमें।

भगवत्प्रेमका पागल वह विरही अपने प्रियतम श्रीकृष्णके सिवा और किसीको जानता ही नहीं, वह तो अपनेको सदाके लिये उनकी चरणदासी बनाकर उन्हींकी इच्छापर अपनेको छोड़ देता है और वियोगकी ज्वालामें जलता हुआ ही उन्हें सुखी देखकर परम सुखका अनुभव करता है। महाप्रभु कहते हैं—

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मा-
मदर्शनान्मर्महतां करोतु वा।
यथातथा वा विदधातु लम्पटो
मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥

'वह लम्पट मुझ चरणदासीको प्रिय समझकर चाहे आलिङ्गन करे, चाहे अपने पैरोंसे कुचले और चाहे दर्शन न देकर विरहकी आगसे मेरे प्राणोंको जलाता रहे—जो चाहे सो करे, परन्तु मेरा तो प्राणवल्लभ वही है, दूसरा कोई नहीं।'

आपको यदि भगवान्‌के विरहमें कुछ मजा आता है तो यह बड़े ही सौभाग्यकी बात है। रोनेमें आनन्द आता है—यह भी बहुत उत्तम है। बस, रोते रहिये और प्रेमके आँसुओंसे सींच-सींचकर विरहकी बेलको सारे तन-मनमें फैलाते रहिये। उसकी जड़को पातालमें पहुँचा दीजिये, और फिर उसीकी सघन छायामें उसीसे उलझे बैठे रहिये। देखिये, आपका मजा कितना बढ़ता है—

श्रीसूरदासजीने रोते-रोते गाया था—

मेरे नैना बिरहकी बेल बई।
सींचत नीर नैनको सजनी! मूल पताल गई॥
बिगसत लता सुभाय आपने छाया सघन भई॥
अब कैसें निरुवारौं सजनी! सब तन पसर गई॥

यह सच है कि ऐसा विरही मिलनसे वञ्चित नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि वह नित्यमिलनमें ही इस विरह-सुखका अनुभव करता है। भगवान् उससे कभी अलग होते ही नहीं।

(६७)

भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके साधन

सचमुच मनुष्य, जो अपने जीवनको भगवान्से विमुख बिता देता है, बड़ी भारी भूल करता है। जीवन बीत जानेपर बड़ा पश्चात्ताप होता है—हाय ! जीव-जीवनमें मिला हुआ सुअवसर बड़ी बुरी तरह खो दिया। मनुष्य-जीवनका एकमात्र प्रयोजन होना चाहिये भगवान्की या भगवत्प्रेमकी उपलब्धि। गङ्गाकी धारा जैसे निरन्तर अनवरत-रूपसे समुद्रकी ओर जाती है--सारी विघ्न-बाधाओं को हटाती हुई, एक लक्ष्यसे, वैसे ही हमारी चित्तवृत्तियाँ, हमारी चेष्टाएँ, हमारी चिन्तनाएँ, हमारी क्रियाएँ, हमारे अनुभव, सब जाने चाहिये केवल भगवान्की ओर !

यह सत्य है, भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये और सारे प्रेमोंका त्याग कर देना पड़ेगा। सब कुछ उस प्रेमकी आगमें जला डालनेके लिये हँसते-हँसते तैयार हो जाना पड़ेगा और मौका पाते ही बिना चूके इस सब कुछको वैसे ही जला डालना चाहिये जैसे बिना विलम्ब तत्परतासे हम मुर्देको फूँक देते हैं। मुर्दा फूँक-कर तो आत्मीयताके सम्बन्धसे हम रोते हैं; परन्तु भगवत्प्रेमकी आगमें जब विषयोंका मुर्दा फुँक जाता है, तब तो रोने—विषादसे और शोकसे रोनेके मूल कारण ही नष्ट हो जाते हैं। फिर कभी रोना भी होता है, तो वह बड़े ही आनन्दका कारण होता है; क्योंकि उसकी उत्पत्ति आनन्दसे ही होती है।

इसलिये केवल भगवान्‌का ही चिन्तन कीजिये। भगवान्‌से प्रार्थना कीजिये, हमारा तमाम जीवन—जीवनकी क्षुद्र-से-क्षुद्र चेष्टा भगवान्‌के लिये ही हो। पूर्ण हृदयसे हम भगवान्‌को ही भजें। दूसरेके लिये न मनमें स्थान हो और न दूसरेकी सेवामें कभी तन लगे। तन, मन, धन जो कुछ है, उन्हींका तो है। उनकी वस्तु उन्हींके अर्पण हो जाय। जो वस्तु उनके अर्पण हो जाती है, वही बचती है; वह हो जाती है अनमोल और वह हमें विपत्तिके अथाह समुद्रोंसे तार देती है।

प्रेममें खोना और अलग होना नहीं होता, खोने और अलग होनेमें भी पाना ही होता है। यही तो प्रेमका रहस्य है।

—:o:—

(५८)

श्रीकृष्णचरित्रकी उज्ज्वलता

× × × × आपके पत्रमें ऐसे प्रश्न थे जिनका उत्तर श्रीकृष्ण-चरित्रके स्मृतियोगमें स्थित चित्तकी सुस्थिर अवस्थामें ही किसी अंशमें लिखा जा सकता है। यह भी देर होनेका एक कारण है। आशा है आप मुझे क्षमा करेंगे।

आपने अपने प्रश्नोंमें भगवान् श्रीकृष्णके व्रजचरित्रपर जो आक्षेप किये हैं और व्यङ्ग्यात्मक वाक्य लिखे हैं वे तो ठीक नहीं हैं। यह ठीक है कि आप श्रीकृष्णको 'बहुत ही उज्ज्वल' रूपमें देखना चाहते हैं और यह भी सत्य है कि आपको श्रीकृष्ण-चरित्रका जो 'अपवित्र' (?) वर्णन मिलता है, उसे पढ़-सुनकर दुःख होता

है। आपकी नीयत ठीक है, परन्तु श्रीकृष्ण-चरित्रका मर्म समझे बिना ही उसपर दोषारोपण करना और उसे अपवित्र बतला देना उचित नहीं है। आज आपके-ऐसे और भी बहुत-से लोग हैं जो सच्चे हृदयसे श्रीकृष्णके चरित्रको अपनी कल्पनाके अनुसार उज्ज्वलताके साँचेमें ढला हुआ देखना चाहते हैं। परन्तु वह उनकी कल्पना है। भगवान्‌को अपनी मर्यादाके अंदर बाँध रखनेकी उनकी यह कल्पना सचमुच हास्यास्पद ही है। भगवान् भगवान् ही हैं—उनकी लीलाओंकी परीक्षा हमारी मायाच्छन्न बुद्धि नहीं कर सकती।

आप श्रीकृष्णका भजन-चिन्तन कीजिये। भजनके प्रतापसे उनकी कृपाके द्वारा शुद्ध मतिके प्राप्त होनेपर आप श्रीकृष्णके व्रज-चरित्रका महत्त्व कुछ समझ सकेंगे। उनका उज्ज्वल चरित्र देखना हो तो उनकी श्रीमद्भगवद्गीताको देखिये, जिसमें कहीं भी किन्तु-परन्तुके लिये गुंजाइश नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका व्रजचरित्र उज्ज्वल नहीं है। वह तो परमोज्ज्वल है और परम पवित्र है, परन्तु पहले उज्ज्वलकी उपलब्धि होनेपर ही परमोज्ज्वलकी ओर अग्रसर हुआ जा सकता है। गीताके चरम उपदेश भगवत्-शरणागतिको प्राप्त होनेपर ही आगे चलना सम्भव है। जो उनके गीतोक्त उज्ज्वल चरित्रको समझे बिना ही उनके परम उज्ज्वल व्रजचरित्रकी आलोचना करनेका दुःसाहस करते हैं, उनकी विवेककी आँखें चौंधिया जाती हैं और वे अपनेको एक विलक्षण अँधेरेमें पाते हैं, जो उनकी आँखोंके न सहनेयोग्य आत्यन्तिक प्रकाशके कारण उत्पन्न होता है। इसीसे वे वास्तविक रहस्यको न समझकर नाना प्रकारके कुतर्क करके श्रीभगवान्‌पर दोषारोपण करते हैं या उनके उच्च

चरित्रको मिथ्या करार देकर बड़े भयानक पाप-पंकमें अपनेको फँसा लेते हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि मैं व्रजचरित्रके रहस्यको पूर्णतया जानता हूँ। मैं तो उनके उज्ज्वल गीता-रहस्यको भी नहीं जानता। आपने प्रश्नोंके उत्तरमें मेरी अपनी 'सम्मति' पूछी है, इसीसे कुछ लिख रहा हूँ। यही ठीक रहस्य है, यह मेरा दावा नहीं है। आपके लंबे प्रश्नोंका अलग-अलग उत्तर न लिखकर संक्षेपमें एक ही साथ लिखता हूँ। कोई बात छूट जाय तो क्षमा कीजियेगा।

मैं श्रीगोपीजनोंके साथ की हुई भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाओंको सर्वथा सत्य और परम पवित्र मानता हूँ। मेरी समझसे उनमें व्यभिचारका जरा भी दोष नहीं है। वह तो साधनके ऊँचे-से-ऊँचे स्तरकी परम पवित्र दिव्य अनुभूति है, जो परम दुर्लभ अत्यन्त कठिन गोपीरतिकी साधनामें सिद्ध परम विरक्त, एकान्त भगवद्-रसिक महापुरुषोंको ही उपलब्ध होती है।

श्रीराधारानीका नाम अवश्य ही श्रीमद्भागवतमें नहीं है। इससे यह कहनेका साहस नहीं करना चाहिये कि श्रीराधारानीकी 'कहानी'? कल्पित है। वह 'कहानी' नहीं है, सत्य सत्य है। श्रीमद्भागवतमें नाम नहीं है तो कहीं विरोध भी नहीं है। उसमें तो किसी भी गोपीका नाम नहीं है। अत्यन्त प्राचीन पद्मपुराणमें, ब्रह्मवैवर्तमें तथा गर्गसंहितादि सम्मान्य ग्रन्थोंमें उनकी लीला लिखी है और इससे भी बढ़कर उन महात्मा पुरुषोंकी अनुभूति प्रमाण है, जिन्होंने श्रीराधारानीका और उनकी कृपाका प्रत्यक्ष किया है। कोई न माने, तो उसपर न तो कोई जोर है, न आग्रह है। परन्तु किसीके मानने-न-

माननेसे सत्यका विनाश नहीं हो सकता। श्रीराधारानीका श्रीकृष्णके साथ विवाह हुआ था या नहीं, इस खोजकी आवश्यकता नहीं है, यद्यपि इसका भी वर्णन मिलता है। मेरा तो कहना यह है कि यदि केवल स्थूलदृष्टिसे श्रीकृष्णको साधारण मानव मानकर विचार करते हैं तब तो श्रीकृष्ण जिस समय वृन्दावन छोड़कर मथुरा चले गये थे, उस समय उनकी उम्र ११ वर्षकी थी। रासलीलादि तो इससे भी बहुत पहलेका वर्णन है। इतनी छोटी अवस्थामें कामक्रीडा हो नहीं सकती। और यदि उन्हें सर्वशक्तिमान्, सर्वान्तिर्यामी, सबके एकमात्र आत्मा, सर्वलोकमहेश्वर, सच्चिदानन्दघन--स्वयं भगवान् मानते हैं, तब श्रीराधारानी बाहरसे कोई भी क्यों न हो, वे साक्षात् भगवती हैं, भगवान् श्रीकृष्णकी ह्लादिनी शक्ति हैं, उनके आनन्द-स्वरूपका मूर्तरूप हैं, उनकी स्वरूपा शक्ति हैं। वे उनसे कदापि अलग नहीं हैं। आनन्द और प्रेमकी अति दिव्य लीलामें उनका--एक ही रूपका दो भावोंमें दिव्य नित्य प्रकाश है। श्रीराधारानी महाभावरूपा हैं, और भगवान् श्रीकृष्ण परम प्रेमस्वरूप हैं। प्रेमका स्वरूप है प्रेमास्पदके सुखसे सुखी होना। जहाँ निजेन्द्रियतृप्तिकी वासना है, वहाँ तो प्रेम है ही नहीं, वहाँ तो कल्पित काम है। भगवान् श्रीकृष्ण श्रीमती राधारानीके प्रेमास्पद हैं और श्रीराधारानी श्रीकृष्णकी प्रेमास्पदा हैं। श्रीराधारानी जो कुछ करती हैं, श्रीकृष्णके सुखके लिये करती हैं। और श्रीकृष्णको सुखी देखती हैं तो उनके सुखसे सुखी होनेका स्वभाव होनेके कारण श्रीराधारानीको अपार सुख होता है। इधर श्रीराधारानीको सुखी देखकर श्रीकृष्णका सुख बढ़ता है, क्योंकि श्रीराधारानी उनकी

प्रेमास्पदा हैं और उनको सुखी करनेके लिये ही श्रीकृष्णकी प्रेम-लीला होती है। इस प्रकार दोनों परस्पर एक-दूसरेको सुखी करते हुए और एक-दूसरेके सुखसे अपने सुखकी वृद्धि करते हुए लीलामें संलग्न रहते हैं। श्रीगोपीजन इन्हीं श्रीकृष्णकी स्वरूपा-शक्ति ह्लादिनीकी घनीभूत मूर्ति हैं। जो दिन-रात श्रीराधा-कृष्णके मिलन-सुखमें सुखका अनुभव करती हुई उनकी लीलामें संयुक्त रहती हैं। यह लीला अत्यन्त दिव्य है। श्रीराधा और श्रीकृष्ण दोनों ही प्रेमी हैं—दोनों ही प्रेमास्पद हैं, इसीसे भक्त कवि श्रीभगवतरसिकजीने एक पदमें कहा है—

परसपर दोउ चकोर दोउ चंदा।
दोउ चातक, दोउ स्वाती, दोउ घन, दोउ दामिनी अमंदा॥
दोउ अरविंद, दोऊ अलि लंपट, दोउ लोहा, दोउ चुंवक।
दोउ आशिक, महवूब दोउ मिलि, जुरे जुराफा अंबक॥
दोउ मेघ, दोउ मोर, दोउ मृग, दोउ राग-रस-भीने।
दोउ मनि बिसद, दोउ बर पन्नग, दोउ वारि, दोउ मीने॥
भगवतरसिक बिहारिनि प्यारी, रसिक बिहारी प्यारे।
दोउ मुख देखि जियत अधरामृत पियत होत नहिं न्यारे॥

परन्तु इन्हीं भगवतरसिकजीने ठीक ही कहा है—

'भगवतरसिक रसिककी बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना॥

यह सत्य है कि रासलीला आदिमें शृङ्गारका खुला वर्णन है और नायक-नायिकाओंकी भाँति चरित्रचित्रण है; परन्तु उसके पढ़ने-से काम-वासना जाग्रत् होती है, यह बात ठीक नहीं है। रास-पञ्चाध्यायीका पाठ तो हृद्रोग—कामका नाश करनेवाला माना गया

है, और है भी यही बात। हाँ, उनकी बात दूसरी है जो भगवद्भाव-हीन हैं और उनके लिये रासलीलाका पढ़ना उचित भी नहीं है। यही तो अधिकारीभेदका रहस्य है। मेरी समझसे इस शृङ्गार और नायक-नायिकाकी लीलामें कुछ भी दोष नहीं है।

स्वयं समग्र ब्रह्म, पुरुषोत्तम, सर्वान्तर्यामी, सर्वलोकमहेश्वर, सर्वात्मा, सर्वाधिपति, अखिल विश्वब्रह्माण्डके एकमात्र आधार, तमाम विश्वसमष्टिको अपने एक अंशमात्रसे धारण करनेवाले, सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीभगवान् तो गोपीनाथस्वरूपसे इस रसके नायक हैं; और उपर्युक्त ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत मूर्ति—तत्त्वतः अभिन्नरूपा श्रीगोपीजन नायिका हैं। इनकी वह लीला भी सच्चिदानन्दमयी, अत्यन्त विलक्षण और हमलोगोंके प्राकृत मन-बुद्धिके सर्वथा अगोचर, दिव्य और अप्राकृत है; परन्तु यदि थोड़ी देरके लिये यह भी मान लें कि इस लीलामें मिलन-विलासादिरूप शृङ्गारका ही रसास्वादन हुआ था, तो भी इसमें तत्त्वतः कोई दोष नहीं आता। अत्यन्त मधुर मिश्रीकी कड़वी तूँबीके शकलकी कोई आकृति गढ़ी जाय जो देखनेमें ठीक तूँबी-सी मालूम होती हो, परन्तु इससे वह तूँबी क्या कड़वी होती है? अथवा क्या उसमें मिश्रीके स्वभावगुणका अभाव हो जाता है? बल्कि वह और भी लीलाचमत्कारकी बात होती है। लोग उसे खारी तूँबी समझते हैं, होती है वह मीठी मिश्री। इसी प्रकार सच्चिदानन्दघनमूर्ति भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी अभिन्न-स्वरूपी ह्लादिनीशक्तिकी घनीभूत मूर्ति श्रीगोपीजनोंकी कोई भी लीला कैसी भी क्यों न हो, उसमें लौकिक कामका कड़ुवा आस्वादन है ही नहीं! वहाँ तो नित्य दिव्यसच्चिदानन्दरस है। जहाँ मलिना

माया ही नहीं है, वहाँ मायासे उत्पन्न कामकी कल्पना कैसे की जा सकती है ? कामका नाश तो इससे बहुत नीचे स्तरमें ही हो जाता है। हाँ, इसकी कोई नकल करने जाता है, तो वह अवश्य पाप करता है। श्रीभगवान्‌की नकल कोई नहीं कर सकता। मायिक पदार्थोंके द्वारा अमायिकका अनुकरण या अभिनय नहीं हो सकता। कड़वी तूँबीके फलसे चाहे जैसी मिठाई बनायी जाय और देखनेमें वह चाहे जितनी भी सुन्दर हो, परन्तु उसका कड़वापन नहीं जा सकता। इसीलिये जिन्होंने श्रीकृष्णकी रासलीलाकी नकल करके नायक-नायिकाका रसास्वादन करना चाहा है या जो चाहते हैं, वे तो डूबे हैं और डूबेंगे ही। श्रीकृष्णका अनुकरण तो सब बातोंमें केवल श्रीकृष्ण ही कर सकते हैं !

हाँ, आपका यह प्रश्न विचारणीय अवश्य है कि 'फिर भगवान् लोकसंग्रहके आदर्श कैसे माने जा सकते हैं ?' इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो किसीके बचपनके कार्य लोकसंग्रहके आदर्श हुआ नहीं करते। संसारके बहुत बड़े-बड़े आदर्श महात्माओंके बचपनके कार्य भी महात्माओंके योग्य ही हुए हैं, ऐसी बात नहीं है। व्रजलीला ११ वर्षकी उम्रके पहले ही समाप्त हो जाती है। दूसरे, यह रहस्य है कि व्रजलीलामें यह गोपीलीला अत्यन्त गोपनीय वस्तु है। इसका साक्षात्कार तो श्रीभगवान् और उनकी अन्तरङ्ग शक्तियों-को ही होता है। अन्य किसीका इसमें प्रवेश ही नहीं है। यह लीला न तो लोकालयमें होती है और न लोकसंग्रह इसका उद्देश्य ही है। यह तो बहुत ऊपर उठे हुए महात्माओंके अनुभव-राज्यमें

होनेवाली अप्राकृत लीला है। इसका बाह्य लोकसंग्रहसे कोई सम्बन्ध नहीं। व्रजमें भी इस लीलाको प्रायः कोई नहीं जानते थे। बाहर-वालोंकी तो बात ही क्या है, गोपोंने तो अपनी-अपनी पत्नियोंको अपने पास सोये हुए देखा था।

मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान् स्वान् स्वान् दारान् व्रजौकसः ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३३ । ३८)

ब्रह्मादि देवता केवल—मण्डपके अंदर होनेवाले कार्यको न देख पाकर, बाहरसे मण्डपकी शोभा देखकर ही मुग्ध और चकित होनेवाले लोगोंकी भाँति बाह्यभावको देख-देखकर चकित हो रहे थे। भगवान् शङ्कर और नारदको तथा किसी कालमें अर्जुनको गोपीभाव-की प्राप्ति होनेपर ही इस लीलाके दर्शन हुए थे। इसीलिये शिशुपाल-ने भगवान्पर गालियोंकी बौछार करते समय कहीं गोपीलीलाका संकेत भी नहीं किया। अगर उसे पता होता तो वह इस विषयमें चुप न रहता। इसका यह तात्पर्य नहीं समझना चाहिये कि यह लीला हुई ही नहीं थी। महाभारतमें ही द्रौपदीने अपनी आर्तपुकार-में श्रीभगवान्को 'गोपीजनप्रिय' कहकर पुकारा है। द्रौपदी अन्तरङ्ग भक्त थीं, इससे उनको इस रहस्यका कुछ पता था। अतएव लोक-संग्रहसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। तब लोकसंग्रहके आदर्शमें कोई बाधा कैसे आ सकती है? यह तो साधारण लोककी बात है। जो अन्तरङ्ग साधक हैं, उनके लोकके लिये तो यही लोकसंग्रहका आदर्श है।

गोपियोंके चित्तमें वंशीध्वनि सुनकर काम (अनंग) की वृद्धि हुई थी, यह बात सचमुच भागवतमें ही है और यह सत्य है, परन्तु

ऊपर कहा ही जा चुका है कि वह काम हमलोगोंका दूषित काम नहीं था। प्रेम भी अङ्गरहित ही होता है। गोपियोंका यह 'काम'—श्रीकृष्णविषयक प्रेम था—नित्यसिद्ध प्रेम था, जो वंशीकी ध्वनि सुनते ही प्रबल हो उठा और जिसने गोपीजनोंको प्रेममें बावली बनाकर श्रीभगवान्‌की ओर तत्क्षण ही प्रेरित कर दिया। भगवान् उनकी प्रेमसेवा स्वीकार करनेके लिये ही यमुनापुलिनपर उपस्थित थे। उन्होंने वंशीकी मोहिनी ध्वनिसे आवाहन करके गोपीजनोंको अपने निकट बुला लिया। यही प्रेमी भक्त और भगवान्‌की प्रेमलीला है! इसमें कामकी कहीं गन्ध भी नहीं है।

रही कवियोंकी बात, सो मेरी समझसे कवि तीन श्रेणियोंमें बाँटे जा सकते हैं—(१) वे भक्त कवि जिन्होंने लीलाका प्रत्यक्ष किया; (२) वे कवि जिन्होंने लीलापर विश्वास करके श्रद्धा, भक्ति और पवित्रभावसे व्रजलीलाकी रचना की है; और (३) वे शृङ्गारी कवि जो पवित्र या अपवित्र भावसे भी शृङ्गारका वर्णन करनेके लिये श्रीकृष्ण और श्रीराधारानी या गोपीजनोंको नायक-नायिकाके स्थानमें बैठाकर काव्यरचना करते हैं। नाम बतलानेकी और कौन किस श्रेणीमें है, यह निर्णय करनेकी मेरी सामर्थ्य नहीं। किसके मनमें क्या था कौन जान सकता है? हाँ, श्रीसूरदासजी, तुलसीदासजी, नन्ददासजी आदि भक्त कवियोंके प्रति मेरी श्रद्धा है और उन्होंने जो कुछ कहा है; अत्यन्त पवित्रभावसे कहा है—यह मेरा विश्वास है। तुलसीदासजी यद्यपि श्रीरामभक्त थे, इसलिये यह आवश्यक नहीं कि वे श्रीकृष्णचरित्रका वर्णन करते ही, तथापि उन्होंने

श्रीकृष्ण-गीतावलीमें श्रीकृष्णकी बाल-लीलाओंका संक्षेपमें बड़ा ही मधुर वर्णन किया है।

अब मुझे आपके अन्तिम प्रश्नका उत्तर देना है—यद्यपि इसका उत्तर देनेमें बड़ा ही सङ्कोच है; परन्तु आपने शपथ दिलाकर सत्य पूछा है, इसलिये यह कहना पड़ता है कि मैंने अपने विश्वासकी जो बातें ऊपर लिखी हैं ये केवल पढ़ी-सुनी हुई ही नहीं हैं। इनके माननेका कोई ऐसा भी कारण अवश्य है—जिसपर कम-से-कम मैं अपने लिये कभी अविश्वास नहीं कर सकता। वह कारण क्या है, यह मैं बतलाना नहीं चाहता। न मेरा यही आग्रह है कि मैंने जो कुछ लिखा है उसे आप मान लें। श्रीभगवान् सभी रूपोंमें हैं। आपको श्रीभगवान्‌का जो रूप प्रिय और उज्ज्वल प्रतीत होता है, आपके लिये वही ठीक है, आप उसीकी उपासना कीजिये। मेरा तो इतना ही निवेदन है कि दूसरे रूपोंकी बाबत कटु और हेय आलोचना मत कीजिये। यदि करनी ही हो तो मेरी तुच्छ सम्मतिके अनुसार बहुत ही मर्यादाके अंदर रहकर करनी चाहिये। हिंदू-सम्प्रदायोंकी तो बात ही क्या—ईसाई, मुसल्मान, पारसी आदिके भी वही एक भगवान् हैं, जो हमारे हैं। हमारे ही भगवान्‌की वे विभिन्न रूपोंमें उपासना करते हैं। अतएव भगवान्‌के किसी भी रूपका खण्डन नहीं करना चाहिये।

× × × ×

पत्र बहुत लंबा हो गया है। तत्त्व क्या है, यह मैं पूरा जानता नहीं। जो कुछ जानता हूँ वह मनमें सदा जाग्रत् नहीं रहता और

जितनी बातें मनमें आती हैं, उतनी शब्द, भाव, समय आदिके सङ्कोच और अन्यान्य कारणोंसे लिखी नहीं जा सकतीं। आशा है आप क्षमा करेंगे।

—:※:—

(५९)

गोपीभावकी साधना

आपने गोपीभावके साधन और युगलसरकारकी प्राप्तिके साधन पूछे हैं, आपके सन्तोषके लिये यह उत्तर लिखा गया है। सन्तोष होगा या नहीं, यह तो भगवान् जानें, आपकी जिज्ञासाके कारण इतना समय भगवच्चिन्तनमें बीता, इसके लिये तो मैं आपका कृतज्ञ हूँ ही।

गोपीभावमें प्रधान बातें पाँच हैं—

१—श्रीभगवान्के स्वरूपका पूर्ण ज्ञान, २—श्रीभगवान्में प्रियतमभाव, ३—श्रीभगवान्के प्रति सर्वस्व अर्पण, ४—निजसुखकी इच्छाका पूर्ण त्याग, ५—भगवत्प्रीत्यर्थ जीवनधारण।

आनन्दचिन्मयरस-प्रतिभाविता, श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति, श्रीकृष्णगतप्राणा श्रीकृष्णसुखपरायणा, व्रजगोपियोंमें ये पाँचों बातें पूर्णरूपसे थीं।

जिनका मन विषयोंमें फँसा है, जिन्हें भौतिक सौन्दर्य अपनी ओर खींचता है, जिनकी भोग्यपदार्थोंमें आसक्ति है; शरीर और शरीरसम्बन्धी वस्तुओंपर जिनकी ममता है, जो शरीरके आराम और विषय-भोगकी चाह रखते हैं और जिनका जीवन-प्रवाह निरन्तर

भगवान्‌की ओर नहीं बहने लगा है, वे लोग गोपीभावकी साधनाके अधिकारी नहीं हैं। ऐसे लोग भगवान्‌के अप्राकृत 'प्रेम-तत्त्वको सर्वोच्च दिव्य-मधुररसको स्थूल कामतत्त्व या लौकिक आदिरस ही समझेंगे और भगवान् तथा श्रीगोपीजनोंका अनुकरण करने जाकर भयानक नरक-कुण्डमें गिर पड़ेंगे !

जिनके हृदयमें भोगोंसे सच्चा वैराग्य है, जिनका चित्त काम-सुखसे हट गया है और जिनकी इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी होकर चिन्मय भगवद्-रसका आस्वादन करनेके लिये आतुर हैं—वे ही महाभाग पुरुष गोपी-भावका अनुसरण कर सकते हैं।

श्रीभगवान्‌की तीन स्वरूपा शक्तियाँ हैं—संवित्, सन्धिनी और ह्लादिनी। भगवान्‌का मधुर अवतार ह्लादिनीनामक आनन्द-मयी प्रेमशक्तिके निमित्तसे ही हुआ करता है। वे ह्लादिनी शक्ति साक्षात् श्रीराधिकाजी ही हैं। समस्त गोपीजन उन ह्लादिनी शक्तिकी ही अनन्त विभिन्न प्रतिमूर्तियाँ हैं। उनका जीवन स्वाभाविक ही भगवदर्पित है। उनकी प्रत्येक क्रिया स्वाभाविक ही भगवत्सेवारूप होती है। उनकी कोई भी चेष्टा ऐसी नहीं होती—जिसमें भगवत्प्रीतिसम्पादनके सिवा, श्रीकृष्ण-राधिकाके मिलन-सुखकी साधनाके सिवा अन्य कोई उद्देश्य हो। उनके बुद्धि, मन, इन्द्रिय, शरीर आत्माके सहित सदा श्रीकृष्णके ही अर्पण हैं। उनके द्वारा निरन्तर श्रीकृष्णकी ही सेवा बनती है। कभी भूलकर भी उनका चित्त दूसरी ओर नहीं जाता, दूसरे विषयको ग्रहण नहीं करता, वे श्रीकृष्णमें ही सुखी रहती हैं, उनको सुखी देखकर ही

परमसुखका अनुभव करती हैं। उनका निज सुख श्रीकृष्णसुखमें ही समाया रहता है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।
तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥
(१०।३०।४३)

उनके चित्त भगवान्‌के चित्त हो गये थे अर्थात् उनके चित्तोंमें भगवद्भावके सिवा अन्य किसी सङ्कल्पका उदय ही नहीं होता था। वे उन्हीकी चर्चा करती थीं, उन्हींके लिये उनकी सारी चेष्टाएँ होती थीं, इस प्रकार वे भगवन्मयी हो गयी थीं और भगवान्‌का गुण-गान करते हुए उन्हें अपने घरोंकी भी सुधि नहीं रही थी। वे जब घरोंका काम करतीं, तब भी वे अपने मनमें, अपनी वाणीमें और अपनी आँखोंमें निरन्तर श्रीभगवान्‌का ही स्पर्श पाती थीं, उन्हींके दर्शन करती थीं। उनके लिये कहा गया है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
(श्रीमद्भा० १०।४४।१५)

उन व्रजगोपियोंको धन्य है, जिनका चित्त निरन्तर श्रीकृष्णमें ही लगा रहता है और जो गाय दुहते, धान आदि कूटते, दही बिलोते, आँगन लीपते, बच्चोंको झूला झुलाते, रोते हुए बच्चोंको पुचकारकर चुप कराते और नहलाते-धुलाते तथा घरोंको झाड़ते-

बुहारते–सभी कामोंके करते समय श्रीकृष्णमें ही तन्मय रहकर सजल नेत्रोंसे और गद्गद कण्ठसे निरन्तर उन्हींके गुण गाया करती हैं।

इसीलिये भगवान्‌के अत्यन्त प्रिय भक्त उद्धवजीने गोपी-प्रेमकी महान् महिमासे प्रभावित होकर व्रजमें लता-गुल्म बननेकी अभिलाषा करते हुए गोपियोंके चरणरजकी वन्दना की है—"

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम्।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम्॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भा० १०।४७।६१–६३)

'अहो! कैसा सौभाग्य हो मेरा, यदि मैं वृन्दावनमें कोई बेल, वनस्पति या झाड़ियोंमेंसे कोई हो जाऊँ, जिनपर इन व्रज-बालाओंके चरणकी धूलि पड़े। धन्य हैं ये व्रज-गोपियाँ! जिन्होंने बड़ी कठिनतासे छोड़नेयोग्य बन्धुओंको और सनातन (मर्यादा) धर्मको त्याग कर उस मुकुन्द-पदवीका अनुसरण किया है, जो श्रुतियोंद्वारा खोजी जाती है (परन्तु जिसकी प्राप्ति नहीं होती)। अहो! साक्षात् लक्ष्मीजी जिनकी पूजा करती हैं, तथा ब्रह्मा आदि आप्तकाम

योगेश्वरगण भी जिनका अपने चित्तमें ही चिन्तन करते हैं (परन्तु पाते नहीं), भगवान् श्रीकृष्णके उन चरणकमलोंको रास-साधनाके समय जिन्होंने अपने वक्षःस्थलपर रखकर अपने विरह-तापको बुझाया। जिनका हरिकथामय गान तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाला है, नन्दव्रजकी उन गोपरमणियोंकी चरण-धूलिको मैं बार-बार प्रणाम करता हूँ।'

गोपियोंका हृदय प्रतिक्षण यही पुकारा करता है, 'कैसे हमारे प्रियतम श्रीकृष्णकी इच्छा पूर्ण हो ! ये धन-धाम, ये मन-प्राण, ये देह-गेह कैसे प्यारे कन्हैयाको सुख पहुँचानेवाले हों। अरे, ये तो उन्हींके हैं—उन्हींकी सामग्री हैं, फिर यह चाहा भी कैसे जाय कि इनको लेकर, इन्हें अपनी सेवामें लगाकर तुम सुखी हो जाओ। दी तो जाती है वह वस्तु, जो अपनी होती है यहाँ तो सब कुछ उन्हींका है, अहा ! मुझपर भी तो उन्हींका एकाधिकार है। फिर मैं कैसे कहूँ, तुम मुझे ले लो, मुझे अपनी सेवामें लगा लो। क्या मुझपर मेरा अधिकार है ? बहुत ठीक, अब कुछ नहीं कहना है, तुम यन्त्री हो—मैं यन्त्र हूँ; तुम नचानेवाले हो, मैं कठपुतली हूँ। तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो—बस, वही करो।'

कैसी ऊँची स्थिति है। इन्हें किसी भी वस्तु, किसी भी स्थितिकी जरा भी परवा नहीं है। शास्त्रोंमें आठ फाँसियाँ बतलायी गयी हैं, जिनमें बँधा हुआ मनुष्य निरन्तर कष्ट भोगता रहता है और प्रेममय, आनन्दमय भगवान्की ओर अग्रसर नहीं हो सकता—

घृणा शङ्का भयं लज्जा जुगुप्सा चेति पञ्चमी।
कुलं शीलं च मानं च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः ॥

'घृणा, शङ्का, भय, लाज, जुगुप्सा, कुल, शील और मान— ये आठ जीवके पाश हैं।' अब गोपियोंमें देखिये—इनमेंसे कहीं एक भी उनमें ढूँढ़े नहीं मिलता। वे इन आठ मजबूत फाँसियोंको तोड़-कर स्वतन्त्र हो चुकी हैं। इसीसे वे सर्वस्व त्यागकर अपने जीवनकी गतिको सब ओरसे फिराकर भगवान् श्रीकृष्णमें लगा सकी हैं। मनुष्य भगवत्कृपासे प्राप्त अनुकूल साधना और तत्परताके फलस्वरूप जब इस अवस्थापर पहुँच जाता है, तब वह गोपीभावसे सम्पन्न होकर तुरंत ही भगवान्को प्राप्त करनेके लिये अभिसार करता है। फिर वह कुल-शील, लज्जा-भय, मानापमान, धर्माधर्म और लोक-परलोककी चिन्ता छोड़कर पागलकी तरह 'हा प्रियतम, हा प्राण-प्यारे, हा मेरे मनमोहन' तुम्हारी मधुर छबिको देखे बिना अब एक पल भी मुझसे रहा नहीं जाता, मेरा एक-एक निमेष अब युगके समान बीत रहा है' पुकारता हुआ दौड़ पड़ता है अपने जीवनकी सारी चेष्टाओंको लेकर श्रीकृष्णकी ओर। जो ऐसा कर पाता है वह बड़ा ही भाग्यवान् है। उसीका जीवन धन्य है!

पाँच भाव हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। सारे जीव इन पाँच भावोंके अधीन हैं। जो भाग्यवान् पुरुष इन भावोंको इस अनित्य और दुःखपूर्ण संसारसे हटाकर भगवान्में लगा देता है, वही सच्चा साधक है। ऐसा करना ही वस्तुतः परम पुरुषार्थ है। इन पाँच भावोंमें सबसे उत्तम 'मधुर' भाव है। 'मधुर' भावमें शान्त, दास्य, सख्य और वात्सल्य चारोंका ही समावेश है। मधुरभावापन्न पत्नीके लिये कहा गया है—

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी
धर्मेषु पत्नी क्षमया च धात्री ।
भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा
रङ्गे सखी लक्ष्मण सा प्रिया मे ॥

पति-पत्नीके मधुरभावकी अपेक्षा भी भावकी दृष्टिसे 'परकीया' का भाव और भी ऊँचा है। वह सर्वस्वका त्याग कर अपने प्रियतम-को भजती है। यह भाव जब लौकिक कामजन्य होता है; तब वह महान् दूषित और घोर यन्त्रणामय भयानक नरकोंकी प्राप्ति करानेवाला होता है और यही भाव जब रसराज रसेन्द्रशिरोमणि रस-स्वरूप आनन्दकन्द व्रजेन्द्रनन्दनमें होता है, तब वह सर्वथा निर्दोष, परम उत्कृष्ट, अति उच्च साधनसाम्राज्यका उच्चतम स्तर होता है। इस भावका उदय भगवत्कृपासे ही होता है और उन्हीं महानुभावोंमें होता है, जो इस लोक और परलोकके देवदुर्लभ भोगोंकी और कैवल्य-मोक्षकी भी अभिलाषाको छोड़कर संयम-नियमपूर्वक श्रद्धा, विश्वासके साथ पूरी तत्परतासे साक्षात् भगवत्स्वरूपा श्रीराधिका-जीका या उन्हींकी घनीभूत मूर्ति तत्त्वतः अभिन्नस्वरूपा किसी गोपीजनकी आराधना करता है। इस रसका पूर्ण अनुभव करने-वाली श्रीकृष्णप्रेमरसभावितमति श्रीगोपियाँ हैं। उन्हींमें इसका पूर्ण प्रकाश है—वे कहती हैं—

तौक पहिरावो, पाँव बेड़ी लै भरावो, गाढ़े
बंधन बँधावो, औ खिंचावो काची खाल सों।
विष लै पिलावो, तापै मूठ भी चलावो,
माँझधारमें डुबाओ बाँधि पाथर कमाल सों॥

बिच्छू लै बिछावो तापै मोहि लै सुलावो, फेरि
आग भी लगावो, बाँध कापड़ दुसाल सों।
गिरितें गिरावो, काले नागसे डसावो, हा! हा!
प्रीति ना छुड़ावो प्यारे मोहन नँदलाल सों॥
कोऊ कहो कुलटा कुलीन अकुलीन कहो,
कोऊ कहो रंकिनी कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नरलोक वरलोक लोक लोकनमें
लीन्हीं मैं अलीक लोक लीकनि तें न्यारी हौं॥
तन जाहु, मन जाहु, देव गुरुजन जाहु,
जीव किन जाहु टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावनवारी बनवारीकी मुकुटवारी
पीत पटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं॥

नँदलाल सों मेरो मन मान्यो कहा करैगो कोय री।
हौं तो चरनकमल लपटानी जो भावै सो होय री॥
गृहपति मातुपिता मोहि त्रासत हँसत बटाऊ लोग री।
अब तो ऐसी ही बनि आई विधना रच्यो है संजोग री॥
जो मेरो यह लोक जायगो अरु परलोक नसाय री।
नंदनँदनको तऊ न छाँड़ू मिलूँगी निसान बजाय री॥
यह तन फिरि बहुरो नहिं पैये बल्लभ बेश मुरार री।
परमानंद स्वामीके ऊपर सरबस डारौं वार री॥

अवश्य ही ये कवियोंकी उक्तियाँ हैं, परन्तु इनमें गोपीभावनाकी बाहरी रूप-रेखाका स्पष्ट दिग्दर्शन है। गोपीभावका यथार्थ रहस्य तो गोपीभावापन्न प्रेमी पुरुष ही जानते हैं, उसका वर्णन कोई कर नहीं सकता। यह तो उसका अति बाह्य स्थूल आंशिक प्रकाशमात्र है। न यही समझना चाहिये कि परकीया भाव ही गोपीप्रेमका यथार्थ उदाहरण है। वह प्रेम तो इतना अनिर्वचनीय

और अनुपम है कि न तो वह कहा जा सकता है और न उसकी किसीके साथ तुलना ही हो सकती है।

गोपीभावकी प्राप्तिके लिये संक्षेपतः निम्नलिखित दस साधन करने आवश्यक हैं।

१—किसी ऐसे सद्गुरुका आश्रय जो काम-क्रोध-लोभादिसे सर्वथा रहित हों, अन्तर-बाहरसे पवित्र और सदाचारपरायण हों, शान्त, निर्मत्सर और प्रेमी हों, श्रीकृष्णरसके तत्त्वज्ञ हों, कृष्ण-मन्त्रके ज्ञाता हों, कृष्णानुग्रहको ही श्रीकृष्णप्राप्तिका एकमात्र उपाय जानते हों, दयालु और परम वैराग्यवान् हों और श्रीकृष्णलीला-गुणोंके श्रवण-कीर्तनमें जीवन बिताते हों। ऐसे गुरु न मिलें, तो जगद्गुरु श्रीकृष्णको ही परम गुरुरूपमें वरण करना चाहिये।

२–श्रीगुरुदेवमें जो गुण बतलाये गये हैं, इन्हीं गुणोंको अपने अंदर बढ़ानेका पूरा प्रयत्न करना चाहिये।

३–भगवान् श्रीकृष्ण ही पूर्ण परमेश्वर, सर्वोपरि, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापी, सर्वमय, सर्वातीत, अचिन्त्यानन्तगुणसम्पन्न, अखिल-रसामृतसिन्धु, भक्तवाञ्छाकल्पतरु, नित्यविहारी, अज, अविनाशी, परमब्रह्म, सर्वदेवपूज्य, सर्वदेवस्वरूप, परब्रह्मके भी परम आश्रय, नित्य, निर्गुण, निराकार, निर्विकार, निरञ्जन, अप्रमेय, अनवद्य, अकल, अचल, अनामय, सच्चिदानन्दघन और अचिन्त्य-चिन्मय विग्रह हैं ऐसा मानकर उन्हींको अपना परम आराध्य इष्टदेव बनाना चाहिये।

४–इस लोक और परलोकके तमाम भोगोंको भगवत्प्राप्तिके मार्गमें सर्वथा बाधक समझकर उनसे चित्तकी आसक्तिको बिल्कुल

हटा लेना चाहिये । और आवश्यकतानुकूल भोगोंका व्यवहार भगवत्प्रीत्यर्थ—उन्हें भगवत्पूजनकी सामग्री बनाकर ही करना चाहिये। किसी भी भोग्य वस्तुमें आसक्ति, ममता और कामना जरा भी नहीं रहनी चाहिये ।

५–भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर व्रजलीलाको प्राकृत स्त्री-पुरुषोंकी कामक्रीड़ा कभी नहीं मानना चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णकी भगवत्तामें और उनकी प्रत्येक लीलाकी अप्राकृत सच्चिदानन्द-मयतामें नित्य पूर्ण विश्वास होना चाहिये ।

६–किसी भी प्राणीका जरा भी अहित न करके वैष्णवोचित सत्य, अहिंसा, प्रेम, विनम्रता, ब्रह्मचर्य, सेवा आदि सद्गुण और सत्कर्मोंका तथा श्रीतुलसीजी, गङ्गाजी, यमुनाजी, श्रीविग्रह, भक्त-संत आदिका भगवत्प्रीत्यर्थ श्रद्धापूर्वक यथायोग्य सेवन करना चाहिये।

७–श्रीयुगलमन्त्रका जाप विधिपूर्वक यथासमय अवश्य करना चाहिये, और श्रीभगवन्नामका जप-कीर्तन निरन्तर करते रहना चाहिये ।

८–श्रीश्रीराधिकाजी अथवा श्रीललिताजी आदिका भक्तिपूर्वक सेवन करना चाहिये ।

९–नित्य-निरन्तर अपनेको सर्वतोभावसे भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण करते रहना और उनसे सेवाधिकार-दानके लिये करुण प्रार्थना करते रहना चाहिये ।

१०–कामविकारके नाशके लिये विशेष प्रयत्नवान् होना चाहिये, क्योंकि जबतक जरा भी कामविकार रहता है तबतक गोपीभावकी साधनाका अधिकार किसी तरह भी नहीं मिल सकता ।

पद्मपुराणमें भगवान् श्रीशङ्करने देवर्षि नारदजीसे श्रीराधा-कृष्णकी उपासना, उनके स्वरूप और मन्त्रादिके विषयमें बहुत रहस्यकी बातें बतलायी हैं—उनमेंसे पाठकोंके लाभार्थ कुछ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। भगवान् शिवजी कहते हैं—

श्रीकृष्णके 'मन्त्रचिन्तामणि' नामक दो अत्युत्तम मन्त्र हैं—एक षोडशाक्षर है और दूसरा दशाक्षर।

मन्त्र

षोडशाक्षर मन्त्र है—

'गोपीजनवल्लभचरणान् शरणं प्रपद्ये।'

और दशाक्षर है—

'नमो गोपीजनवल्लभाभ्याम्'

इन मन्त्रोंके अधिकारी सभी वर्णोंके, सभी आश्रमोंके और सभी जातिके वे स्त्री-पुरुष हैं जिनकी सर्वेश्वरेश्वर भगवान् श्रीकृष्णमें भक्ति है—('भक्तिर्भवेदेषां कृष्णे सर्वेश्वरेश्वरे।') श्रीकृष्णभक्तिसे रहित याज्ञिक, दानशील, तान्त्रिक, सत्यवादी, वेदवेदाङ्गपारग, कुलीन, तपस्वी, व्रती और ब्रह्मनिष्ठ कोई भी इनके अधिकारी नहीं हैं। इसलिये ये मन्त्र श्रीकृष्णके अभक्त, कृतघ्न, दुरभिमानी और श्रद्धा-रहित मनुष्योंको नहीं बतलाने चाहिये।

दम्भ, लोभ, काम और क्रोधादिसे रहित, श्रीकृष्णके अनन्य भक्तको ही ये मन्त्र देने चाहिये। इनका यथाविधि न्यास करके श्रीकृष्णकी पूजा करनी चाहिये। फिर उनका इस प्रकार ध्यान करना चाहिये—

ध्यान

सुन्दर वृन्दावनमें कल्पवृक्षके नीचे सुरम्य रत्नसिंहासनपर भगवान् श्रीकृष्ण श्रीप्रियाजीके साथ विराजमान हैं। श्रीकृष्णका वर्ण नवजलधरके समान नील-श्याम है, पीताम्बर धारण किये हुए हैं, द्विभुज हैं, विविध रत्नोंकी और पुष्पोंकी मालाओंसे विभूषित हैं, मुखमण्डल करोड़ों चन्द्रमाओंसे भी सुन्दर है। तिरछे नेत्र हैं, ललाट-पर मण्डलाकृति तिलक हैं, जो चारों ओर चन्दनसे और बीचमें कुंकुमबिन्दुसे बनाये हुए हैं। कानोंमें सुन्दर कुण्डल शोभायमान हैं, उन्नत नासिकाके अग्रभागमें मोती लटक रहा है। पके बिम्बफलके समान अरुणवर्ण अधर हैं, जो दाँतोंकी प्रभासे चमक रहे हैं। भुजाओंमें रत्नमय कड़े और बाजूबन्द हैं और अङ्गुलियोंमें रत्नोंकी अंगूठियाँ शोभा पा रही हैं। बायें हाथमें मुरली और दाहिनेमें कमल लिये हुए हैं। कमरमें मनोहर रत्नमयी करधनी है, चरणोंमें नूपुर सुशोभित है। बड़ी ही मनोहर अलकावली है, मस्तकपर मयूर-पिच्छ शोभा पा रहा है। सिरमें कनेरके पुष्पोंके आभूषण हैं। भगवान्‌की देहकान्ति नवोदित कोटि-कोटि दिवाकरोंके सदृश स्निग्ध ज्योतिर्मय है, उनके दर्पणोपम कपोल स्वेदकणोंसे सुशोभित हैं, चञ्चल नेत्र श्रीराधिकाजीकी ओर लगे हुए हैं। वामभागमें श्रीराधि-काजी विराजिता हैं, तपे हुए सोनेके समान उनकी देहप्रभा है, नील वस्त्र धारण किये हैं, मन्द-मन्द मुसकरा रही हैं। चञ्चल नेत्र-युगल स्वामीके मुखचन्द्रकी ओर लगे हुए हैं और चकोरकी भाँति उनके द्वारा वे श्याम-मुख-चन्द्र-सुधाका पान कर रही हैं। अङ्गुष्ठ और तर्जनी अंगुलियोंके द्वारा वे प्रियतमके मुखकमलमें पान दे रही हैं।

उनके गलेमें दिव्य रत्नोंके और मुक्ताओंके हार हैं। क्षीण कटि करधनीसे सुशोभित है। चरणोंमें नूपुर, कड़े और चरणाङ्गुलियोंमें अंगुरीय आदि शोभा पा रहे हैं। उनके प्रत्येक अङ्ग-प्रत्यङ्गसे लावण्य छिटक रहा है। उनके चारों ओर तथा आगे-पीछे यथास्थान खड़ी हुई सखियाँ विविध प्रकारसे सेवा कर रही हैं।

श्रीराधिकाजी कृष्णमयी हैं, वे श्रीकृष्णकी आनन्दरूपिणी ह्लादिनी शक्ति हैं। त्रिगुणमयी दुर्गा आदि शक्तियाँ उनकी करोड़वीं कलाके करोड़वें अंशके समान हैं। सब कुछ वस्तुतः श्रीराधाकृष्णसे ही भरा है। उनके सिवा और कुछ भी नहीं है। यह जड़-चेतन अखिल जगत् श्रीराधाकृष्णमय है—

चिदचिल्लक्षणं सर्वं राधाकृष्णमयं जगत्।

परन्तु वे इतने ही नहीं हैं। अनन्त अखिल ब्रह्माण्डसे परे हैं, सबसे परे हैं, सबके अधिष्ठान हैं, सबमें हैं और सबसे सर्वथा विलक्षण हैं। यह श्रीकृष्णका किञ्चित् ऐश्वर्य है।

साधन

बहुत दिनोंसे विदेश गये हुए पतिकी पतिपरायणा पत्नी जैसे एकमात्र अपने पतिमें ही अनुरागिणी होकर एकमात्र पतिका ही सङ्ग चाहती हुई दीनभावसे सदा-सर्वदा स्वामीके गुणोंका चिन्तन, गान और श्रवण किया करती है; वैसे ही श्रीकृष्णमें आसक्तचित्त होकर साधकको श्रीकृष्णके गुणलीलादिके चिन्तन, गायन और श्रवण करते हुए ही समय बिताना चाहिये। और बहुत लम्बे समयके बाद पतिके घर आनेपर जैसे पतिव्रता स्त्री अनन्य प्रेमके

साथ तद्गतचित्त होकर पतिकी सेवा, उसका आलिङ्गन आदि तथा नयनोंके द्वारा उसके रूपसुधामृतका पान करती है वैसे ही साधकको उपासनाके समय शरीर, मन, वाणीसे परमानन्दके साथ श्रीहरिको सेवा करनी चाहिये।

एकमात्र श्रीकृष्णके ही शरणापन्न होना चाहिये और वह भी श्रीकृष्णके लिये ही; दूसरा कोई भी प्रयोजन न रहे। अनन्य मनसे श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिये। श्रीकृष्णके सिवा न किसीकी पूजा करनी चाहिये और न किसीको निन्दा। किसीका जूँठा नहीं खाना चाहिये और न किसीका पहना हुआ वस्त्र ही पहनना चाहिये। भगवान्‌की निन्दा करनेवालोंसे न तो बातचीत करनी चाहिये और न भगवान् और भक्तोंकी निन्दा सुननी ही चाहिये।

जीवनभर चातकीवृत्तिसे अर्थ समझते हुए युगलमन्त्रकी उपासना करनी चाहिये। चातक जैसे सरोवर, नदी और समुद्र आदि सहज ही मिले हुए जलाशयोंको छोड़कर एकमात्र मेघजलकी आशासे प्याससे तड़पता हुआ जीवन बिताता है; प्राण चाहे चले जायँ पर मेघके सिवा किसी दूसरेसे जलकी प्रार्थना नहीं करता। इसी प्रकार साधकको एकाग्र मनसे एकमात्र श्रीकृष्णगतचित्त होकर साधना करनी चाहिये।

परम विश्वासके साथ श्रीयुगलसरकारसे निम्नलिखित प्रार्थना करनी चाहिये—

> संसारसागरान्नाथौ पुत्रमित्रगृहाकुलात्।
> गोप्तारौ मे युवामेव प्रपन्नभयभञ्जनौ॥

योऽहं ममास्ति यत्किञ्चिदिहलोके परत्र च ।
तत्सर्वं भवतोरद्य चरणेषु समर्पितम् ॥
अहमस्म्यपराधानामालयस्त्यक्तसाधनः ।
अगतिश्च ततो नाथौ भवन्तावेव मे गतिः ॥
तवास्मि राधिकाकान्त कर्मणा मनसा गिरा ।
कृष्णकान्ते तवैवास्मि युवामेव गतिर्मम ॥
शरणं वां प्रपन्नोऽस्मि करुणानिकराकरौ ।
प्रसादं कुरुतं दास्यं मयि दुष्टेऽपराधिनि ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'नाथ ! पुत्र, मित्र और घरसे भरे हुए इस संसारसागरसे आप ही दोनों मुझको बचानेवाले हैं, आप ही शरणागतके भयका नाश करते हैं। मैं जो कुछ भी हूँ और इस लोक तथा परलोकमें मेरा जो कुछ भी है वह सभी आज मैं आप दोनोंके चरणकमलोंमें समर्पण कर रहा हूँ। मैं अपराधोंका भण्डार हूँ। मेरे अपराधोंका पार नहीं है। मैं सर्वथा साधनहीन हूँ, गतिहीन हूँ। इसलिये नाथ ! एकमात्र आप ही दोनों प्रिया-प्रियतम मेरे गति हैं। श्रीराधिका-कान्त श्रीकृष्ण ! और श्रीकृष्णकान्ते राधिके ! मैं तन-मन-वचनसे आपका ही हूँ और आप ही मेरे एकमात्र गति हैं। मैं आपकी शरण हूँ। आपके चरणोंपर पड़ा हूँ। आप अखिल कृपाकी खान हैं। कृपापूर्वक मुझपर दया कीजिये और मुझ दुष्ट अपराधीको अपना दास बना लीजिये।'

जो भगवान् श्रीराधाकृष्णकी सेवाका अधिकार बहुत शीघ्र प्राप्त

करना चाहते हैं उन साधकोंको भगवान्के चरणकमलोंमें स्थित होकर इस प्रार्थनामय मन्त्रका नित्य जप करना चाहिये।

भगवान् शङ्करने फिर नारदजीसे कहा कि—

'देवर्षि! मैं भगवान्के मन्त्रका जप और उनका ध्यान करता हुआ बहुत दिनोंतक कैलासपर रहा, तब भगवान्ने प्रकट होकर मुझे दर्शन दिये। और वर माँगनेके लिये कहा। मैंने बारंबार प्रणाम करके उनसे प्रार्थना की—'कृपासिन्धो! आपका जो सर्वानन्ददायी समस्त आनन्दोंका आधार नित्य मूर्तिमान् रूप है, जिसे विद्वान् लोग निर्गुण, निष्क्रिय शान्तब्रह्म कहते हैं। हे परमेश्वर! मैं उसी रूपको अपनी आँखोंसे देखना चाहता हूँ।'

भगवान्ने कहा—'आप श्रीयमुनाजीके पश्चिम तटपर मेरे वृन्दावनमें जाइये, वहाँ आपको मेरे स्वरूपके दर्शन होंगे।' इतना कहकर भगवान् अन्तर्धान हो गये। मैंने उसी क्षण मनोहर यमुना-तटपर जाकर देखा—समस्त देवताओंके ईश्वरोंके ईश्वर भगवान् श्रीकृष्ण मनोहर गोपवेष धारण किये हुए हैं। उनकी सुन्दर किशोर अवस्था है। श्रीराधाजीके कन्धेपर अपना अति मनोहर बायाँ हाथ रक्खे वे सुन्दर त्रिभङ्गी-से खड़े मुसकरा रहे हैं। आपके चारों ओर गोपियोंका मण्डल है। शरीरकी कान्ति सजल जलदके सदृश स्निग्ध श्यामवर्ण है। आप अखिल कल्याणके एकमात्र आधार हैं।

इसके बाद भगवान् श्रीकृष्णने अमृतोपम मधुर वाणीमें मुझसे कहा--

यदद्य मे त्वया दृष्टमिदं रूपमलौकिकम् ।
घनीभूतामलप्रेमसच्चिदानन्दविग्रहम् ॥
नोरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम् ।
वदन्त्युपनिषत्सङ्घा इदमेव ममानघ ॥
प्रकृत्युत्थगुणाभावादनन्तत्वात्तथेश्वर ॥
असिद्धत्वान्मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि ।
अदृश्यत्वान्ममैतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा ।
अरूपं मां वदन्त्येते वेदाः सर्वे महेश्वर ॥
व्यापकत्वाच्चिदंशेन ब्रह्मेति च विदुर्बुधाः ।
अकर्तृत्वात्प्रपञ्चस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि ॥
मायागुणैर्यतो मेंऽशाः कुर्वन्ति सर्जनादिकम् ।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकमहं शिव ॥

(पद्मपुराण, पातालखण्ड)

'शङ्करजी ! आपने आज मेरा यह परम अलौकिक रूप देखा है। सारे उपनिषद् मेरे इस घनीभूत निर्मल प्रेममय सच्चिदानन्दघन रूपको ही निराकार, निर्गुण, सर्वव्यापी, निष्क्रिय और परात्पर 'ब्रह्म' कहते हैं। मुझमें प्रकृतिसे उत्पन्न कोई गुण नहीं है और मेरे गुण अनन्त हैं---उनका वर्णन नहीं हो सकता। और मेरे वे गुण प्राकृत दृष्टिसे सिद्ध नहीं होते, इसलिये सब मुझको 'निर्गुण' कहते हैं। महेश्वर ! मेरे इस रूपको चर्मचक्षुओंके द्वारा कोई देख नहीं सकता, इसलिये वेद इसको अरूप या 'निराकार' कहते हैं। मैं अपने चैतन्यांशके द्वारा सर्वव्यापी हूँ, इसलिये विद्वान् लोग मुझको

'ब्रह्म' कहते हैं। और मैं इस विश्वप्रपञ्चका रचयिता नहीं हूँ, इसलिये पण्डितगण मुझको 'निष्क्रिय' बतलाते हैं। शिव ! वस्तुतः सृष्टि आदि कोई भी कार्य मैं स्वयं नहीं करता। मेरे अंश ही (ब्रह्मा-विष्णु-रुद्र) मायागुणोंके द्वारा सृष्टि-संहारादि कार्य किया करते हैं।'

देवर्षि ! भगवान्‌के इस प्रकार कहने और कुछ अन्य उपदेश करनेपर मैंने उनसे पूछा—'नाथ ! आपके इस युगल-स्वरूपकी प्राप्ति किस उपायसे हो सकती है, इसे कृपा करके बतलाइये।' भगवान्‌ने कहा—'हम दोनोंके शरणापन्न होकर जो गोपीभावसे हमारी उपासना करते हैं, उन्हींको हमारी प्राप्ति होती है, अन्य किसीको नहीं।'

गोपीभावेन देवेश स मामेति न चेतरः।

'एक सत्य बात और है—वह यह है कि पूरे प्रयत्नोंके साथ इस भावकी प्राप्तिके लिये श्रीराधिकाकी उपासना करनी चाहिये।

हे रुद्र ! यदि आप मुझे वशमें करना चाहते हैं, तो मेरी प्रिया श्रीराधिकाजीकी शरण ग्रहण कीजिये—

'आश्रित्य मत्प्रियां रुद्र मां वशीकर्तुमर्हसि।'

इस वर्णनसे पता लगा होगा कि भगवान् श्रीराधाकृष्णकी प्राप्ति और उनकी सेवा ही गोपीभावकी साधनाका लक्ष्य है और इसकी प्राप्तिके लिये उपर्युक्त प्रकारसे श्रद्धा-भक्तिपूर्वक तत्पर होकर साधना करनी चाहिये और भगवान् श्रीकृष्णके परम मनोहर मुनिजनमोहन सौन्दर्यसुधामय स्वरूपका अतृप्त और निर्निमेष मानस नेत्रोंसे अपने हृदयमें ध्यान करना चाहिये। ध्यान करते-करते जब उनकी

कृपासे आपको उनके मधुर रूप-माधुर्यके प्रत्यक्ष दर्शन होंगे तब तो आप निहाल ही हो जाइयेगा। फिर तो आप भी यही चाहियेगा—

" माथे पै मुकुट देखि, चन्द्रिका-चटक देखि,
छबिकी लटक देखि, रूपरस पीजिये।
लोचन बिसाल देखि, गरे गुंजमाल देखि,
अधर रसाल देखि, चित्त चाव कीजिये॥
कुंडल हलनि देखि, अलक बलनि देखि,
पलक चलनि देखि सरबस ही दीजिये।
पीताम्बरकी छोर देखि, मुरलीकी घोर देखि,
साँवरेकी ओर देखि देखिबोई कीजिये॥

(६०)

गोपीभावकी उपासना

आपका कृपापत्र मिला था। उत्तरमें देर हुई, इसके लिये क्षमा करें। आपको गोपीभावकी उपासना प्रिय है सो बड़ी ही अच्छी बात है। परन्तु सावधान रहियेगा, कहीं मनमें कामभावना, इन्द्रिय-सुखेच्छा न पैदा हो जाय। गोपीभाव 'सर्वसमर्पण' का भाव है। इसमें निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग है। गोपीभावमें न तो लहँगा, साड़ी या चोली पहननेकी आवश्यकता है, न पैरोंमें नूपुर और नाकमें नथकी ही। गोपीभावकी प्राप्तिके लिये श्रीगोपीजनोंका

ही अनुगमन करना होगा। ध्यान कीजिये—श्रीकृष्ण मचल रहे हैं और मा यशोदा उन्हें माखन देकर मना रही हैं। श्रीकृष्ण कुञ्जमें पधार रहे हैं, श्रीमती राधिकाजी उनकी अगवानीकी तैयारीमें लगी हैं। गोपीभावमें खास बात है 'रसकी अनुभूति।' 'श्रीकृष्ण ही मेरे एकमात्र प्राणनाथ हैं। वे ही परम प्रियतम हैं। उनके सिवा मेरे और कुछ भी नहीं है।' इतना कह देनेमें ही रस नहीं मिलता। रसके लिये रसभरा हृदय चाहिये। वाणीसे बाह्य रसका भानमात्र होता है। एक पतिप्राणा पत्नी प्रेमभरे हृदयसे पतिको जब 'प्राणनाथ' और 'प्रियतम' कहती है, तब उसके हृदयमें यथार्थ ही यह भाव मूर्तिमान् रहता है। इसीसे उसे रसानुभूति होती है। इसीसे वह प्राणनाथके लिये अपने प्राणोंका उत्सर्ग करनेमें नहीं हिचकती या यों कहना चाहिये कि उसके प्राणोंपर असलमें पतिका ही अधिकार होता है। पतिको प्रियतम कहते समय उसके हृदयमें स्वाभाविक ही एक गुदगुदी होती है, आनन्दकी रस-लहरी छलकती है। इसी प्रकार भक्तका हृदय भगवान्‌को जब सचमुच अपना 'प्राणनाथ' और 'प्रियतम' मान लेता है, तभी वह गोपीभावकी प्राप्तिके योग्य होता है। और ठीक पत्नीकी भाँति जब भगवान्‌को पतिरूपमें वरण कर लिया जाता है तभी उन्हें 'प्रियतम' और 'प्राणनाथ' कहा जाता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण प्रश्नोत्तर

आपका कृपापत्र मिले बहुत दिन हो गये। महीनों बीत गये। मैं उत्तर नहीं दे सका, इसके लिये क्षमा करेंगे।

आपके प्रश्नोंमेंसे कुछ तो प्रश्न मैंने छोड़ दिये हैं, उनका आंशिक उत्तर आपके दूसरे प्रश्नोंके उत्तरमें आ जायगा। संक्षेपमें पहले आपके तीन प्रश्नोंको ही लिखकर फिर उनका उत्तर लिखता हूँ।

प्रश्न १—एक महात्मा हैं, उनमें मेरी श्रद्धा है। मैंने देखा है, उनके पास स्त्रियाँ भी आजकल बहुत आती हैं। स्त्रियोंमें युवतियाँ भी होती हैं। स्त्रियाँ उनके चरण छूती हैं, चरण-रज लेती हैं, चरण धोकर पीती हैं, मिठाई, फल खिलाकर उच्छिष्ट प्रसाद लेती हैं, चरण दबाती हैं, पञ्चोपचारसे पूजा करती हैं, इत्र लगाती हैं, आरती उतारती हैं और श्रद्धाके कारण कभी-कभी उन्हें मुकुट-पीताम्बर पहनाकर श्रीकृष्ण सजाकर पालनेमें झुलाकर आनन्द लेती हैं। महात्मा निर्विकार रहते हैं। ये सब बातें एकान्तमें होती हैं। स्त्रियाँ भी बड़ी श्रद्धासे यह सब शुद्ध भावसे करती हैं। यह कोई छिपी बात भी नहीं है। परन्तु अश्रद्धालु लोग निन्दा करते हैं। क्या इसमें वास्तवमें कोई दोष है? क्या महात्माओंकी निन्दा करने और श्रद्धालु भले घरोंकी मा-बहिनोंमें दोष देखनेवाले पापके भागी नहीं होते?

२—श्रीकृष्ण महापुरुष थे, सिद्ध महात्मा थे। गोपियाँ परस्त्रियाँ थीं, उन्होंने उनको उपपति-भावसे चाहा था, और श्रीकृष्णने गोपियोंको स्वीकार भी किया था। अगर इसमें श्रीकृष्ण और गोपियों-

को दोष नहीं लगा तो एक काम-क्रोधपर विजय पाये हुए महात्मामें और श्रद्धा रखनेवाली स्त्रियोंमें यदि परस्पर शुद्ध भाव रखते हुए गुरु-शिष्याके रूपमें व्यवहार हो तो इसमें क्या दोष है? वे स्त्रियाँ सचमुच उनमें श्रीकृष्णकी ही भावना करती हैं। इसमें क्या कोई आपत्ति है?

३—गीतामें भगवान्‌ने सब धर्मोंका त्याग करके शरण आनेकी बात कही है। इस सब धर्मोंके त्यागका आप क्या अर्थ मानते हैं? धर्मोंका त्याग न? और यदि यही अर्थ है तथा भगवान्‌की भक्तिमें सभी धर्मोंका त्याग आवश्यक है, तो फिर एक लौकिक धर्मकी परवा न करके और लोकनिन्दासे न डरकर गुरु-सेवनमें क्या आपत्ति है? क्या स्त्रियोंको गुरु नहीं करना चाहिये? और यदि करना चाहिये तो क्या उनके लिये दूसरा धर्म है?

यह आपके प्रश्नोंका सार है। आपके इन प्रश्नोंका उत्तर देनेकी मुझमें योग्यता नहीं है, और इन विषयोंमें बहुत मतभेद भी है; परन्तु आपकी आज्ञा न टाल सकनेके कारण जो कुछ मुझे ठीक मालूम होता है, वह लिख रहा हूँ। आपको न रुचे तो क्षमा कीजियेगा। उत्तर आप ही तक रहता तब तो इतनी बात नहीं थी। आपने 'कल्याण'में प्रकाशित करनेकी आज्ञा दी है, 'कल्याण' में प्रकाशित होनेपर उसे लाखों आदमी पढ़ सकते हैं और सबकी रुचि एक-सी होती नहीं। कोई अनुकूल समझेंगे, कोई प्रतिकूल। मैं हाथ जोड़कर इसीलिये पहले ही यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि मेरा उत्तर किसीपर आक्षेप करनेके लिये नहीं है—जो कुछ मनमें जँचती है, वही लिख रहा हूँ। न मैं किसीका भी जरा भी

जी दुखाना चाहता हूँ। तथापि यदि इससे किन्हींको दुःख हो तो मैं उनसे विनम्रभावसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ।

प्रथम प्रश्नका उत्तर—निन्दा तो निन्दनीय पुरुषकी भी नहीं करनी चाहिये, फिर निर्विकार महात्माओंकी निन्दा तो सर्वथा दोषरूप है। निन्दा करनेमें दूसरोंके दोषोंका चिन्तन और उनकी आलोचना करनी पड़ती है। जैसा चिन्तन और कथन होता है, अन्तःकरणमें वैसे ही संस्कार-चित्र अङ्कित होते जाते हैं, जो भविष्य-में निमित्त बनकर मनुष्यसे वैसा ही कर्म करवा सकते हैं। निन्दामें वाणीका अपव्यय तो होता ही है, वाणी अशुद्ध भी होती है। निन्दा यदि झूठी हो, तब तो वह असत्य भाषणके दोषके साथ ही निर्दोष-पर दोषारोपण करानेवाली और उसके चित्तमें द्वेष और दुःख उत्पन्न करनेवाली होती है। द्वेषका परिणाम वैर, क्रोध और हिंसा होता है। अतएव किसीकी भी किसी प्रकारकी निन्दा बुद्धिमान् पुरुषको नहीं करनी चाहिये। फिर किसी महात्माकी या भले घरोंकी मा-बहिनोंकी निन्दा तो अत्यन्त गर्हित है।

परन्तु यह विषय विचारणीय अवश्य है। निश्चय ही सच्चे महात्मा पुरुष—चाहे सुन्दरी रमणियोंसे घिरे हुए रहें या भयानक भूतप्रेतोंसे, उनकी पुष्पोंसे पूजा हो या उनपर जूतियाँ बरसें, उनकी विस्तृत स्तुति हो या अकारण ही गालियोंकी वर्षा हो—सदा निर्विकार ही रहते हैं, उनका इनसे कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं। वे अपनी स्थितिमें अटल, अचल स्थित रहते हैं। ये सब चीजें सम्बन्ध रखती हैं नाम-रूपसे, और वे नाम-रूपके मायिक स्तरको लाँघकर बहुत ऊँचे उठे हुए होते हैं—परमात्मामें !

तथापि यह आदर्श कदापि नहीं है। महात्माके निर्विकार रहनेपर भी ये दूसरोंके पतनका हेतु हो सकती हैं। महात्माकी देखा-देखी कोई भी दाम्भिक मनुष्य अपने किसी नीच स्वार्थकी सिद्धिके लिये महात्मा सजकर ऐसा कर सकता है। बूढ़े महात्मा गाँधी युवती स्त्रियोंके कंधोंपर हाथ रखकर शुद्ध भावसे चला करते थे, लोग नकल करने लगे। आखिर महात्मा गाँधीजीने अपनी भूल स्वीकार की। इसीलिये महात्माओंपर भी एक दायित्व माना जाता है कि उन्हें, जबतक उनकी वाह्य संज्ञा लोप न हो गयी हो, वे देहकी सुधि सर्वथा न भूल गये हों, ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिये, जिसकी नकल करके लोग पापके भागी हों। लोकालयमें रहनेवाले महात्मा तो जगत्के लिये आदर्श होते हैं—वे रास्ता दिखानेवाले होते हैं अपने पवित्र कर्मों और आदर्श आचरणोंद्वारा! आपने जिन महात्माकी बात लिखी है, मुझे पता नहीं वे कौन और कैसे हैं; परन्तु यदि वे पहुँचे हुए महात्मा हैं, तब तो उनके श्रीचरणोंमें मेरी यह विनीत प्रार्थना है कि वे इस विषयपर एक बार पुनः विचार करें। और यदि उनके ध्यानमें ठीक जँचे तो वे कम-से-कम महात्माओंके आदर्शकी रक्षाके लिये ही अपने भक्तोंको समझा दें कि उनके पास स्त्रियाँ न आने पावें। उनके भक्त भी हों और बात भी न मानें तो, ऐसे भक्तोंसे तो दूर रहना ही चाहिये। और यदि वे साधक पुरुष हैं तो मैं नम्रताके साथ उन्हें सावधान कर देना चाहता हूँ कि वे गम्भीरतासे विचार करें, अपनी साधनाको यों नष्ट न करें और अपने गहरे पतनके लिये खाई खोदना बंद कर दें। और यदि कोई दम्भी हैं, तब तो कुछ भी कहना नहीं है; क्योंकि

न तो वे मेरी प्रार्थना सुनेंगे और न सुनना उन्हें वस्तुतः इष्ट ही है।

उन भोली बहिनोंके लिये क्या कहा जाय, जो इस प्रकारसे बुरा आदर्श उपस्थित कर रही हैं। वे ऐसा करके स्वयं तो दोष करती ही हैं, उन महात्मापर भी लोकापवादका दोष लगाने और उनके आदर्शको नीचा गिरानेमें कारण बनती हैं। मेरी समझसे तो स्त्रियोंके लिये दो ही पुरुष ऐसे हैं, जिनसे वे ऐसा व्यवहार कर सकती हैं—एक अपना पति, जिसके साथ अग्निकी साक्षीमें विवाह हुआ है, और दूसरे अखिल ब्रह्माण्डोंके एकमात्र स्वामी विश्वात्मा जगत्पति श्रीभगवान्! इन दोके अतिरिक्त किसीसे भी एकान्तमें स्त्रीको नहीं मिलना चाहिये। नहीं तो बहुत भयानक परिणाम होता है। पहले नहीं मालूम होता, शुद्ध व्यवहार ही दीखता है, परन्तु आगे चलकर बड़ी बुराइयाँ पैदा हो जाती हैं। प्रकृतिकी रचना ही कुछ ऐसी ही है। शास्त्रकार तो कहते हैं—मा-बहिन-बेटीके पास भी पुरुषको एकान्तमें नहीं रहना चाहिये। बलवान् इन्द्रियाँ विद्वान्के मनमें भी क्षोभ पैदा कर देती हैं—

मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामो विद्वांसमपि कर्षति ॥

(मनु० २। २१५)

अस्तु, और जो लोग श्रीकृष्णका स्वाँग सजकर गोपीभावसे स्त्रियोंसे पूजा कराते हैं, मेरी तुच्छ समझसे वे बड़ी भारी गलती करते हैं। यह सत्य है कि यह सारा जगत् परमात्माकी अभिव्यक्ति है, इसके निमित्तोपादान कारण परमात्मा ही होनेसे यह परमात्मस्वरूप ही है, और इस दृष्टिसे देवता-मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग—सभीको परमात्माका स्वरूप समझना आवश्यक है; परन्तु परमात्माका यह

पूर्ण रूप नहीं है। यह तो अंशमात्र है। यद्यपि सब कुछ परमात्मा है; किन्तु परमात्मा यह 'सब कुछ' ही नहीं है—परमात्मा इस 'सब कुछ' से परे अनन्त है। और वह अनन्त परमात्मा श्रीकृष्णका ही स्वरूप है, इससे श्रीकृष्णसे ही सब व्याप्त हैं—यह ठीक ही है।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना।

(गीता ९।४)

भगवान् श्रीकृष्णने कहा ही है, 'मेरी अव्यक्त मूर्तिसे (परमात्मा विभुसे) सारा जगत् व्याप्त है।' परन्तु यही (जगत् ही) श्रीकृष्ण नहीं है। अतएव श्रीकृष्णका स्वाँग रासलीलाके खेलमें चाहे आ सकता है, परन्तु कोई मनुष्य वस्तुतः श्रीकृष्ण बनकर लोगोंसे अपनेको पुजवावे, यह तो बहुत ही अनुचित है, और पूजनेवाले भी बड़ी भूल करते हैं। माना कि स्त्रियाँ श्रद्धालु हैं, भले घरोंकी हैं और शुद्ध भावसे ही ऐसा करती हैं, परन्तु यह चीज वास्तवमें आदर्शके विरुद्ध और हानिकारक है। यह भी माना कि महात्मा निर्विकार हैं, परन्तु उनका भी आदर्श तो बिगड़ता ही है। और यदि साधक हैं तो इस निर्विकारताका बहुत दिनोंतक टिकना भगवान्की असीम कृपासे ही सम्भव है। ऐसी स्थितिमें जो लोग शुद्ध भावसे इस कार्यका प्रतिवाद करते हैं, वे न तो कोई दोष करते हैं और न अनुचित ही करते हैं। मेरी समझसे यदि उनका भाव द्वेषरहित और शुद्ध है तो वे पापके भागी नहीं होते।

द्वितीय प्रश्नका उत्तर—श्रीकृष्ण मेरी समझमें महापुरुष या सिद्ध महात्मा ही नहीं हैं; वे साक्षात् परब्रह्म, पूर्णब्रह्म सनातन पुरुषोत्तम स्वयं भगवान् हैं। उनका शरीर पाञ्चभौतिक—मायिक नहीं है; वे

नित्य सच्चिदानन्द-विग्रह हैं। और गोपीजन भी दिव्यशरीरयुक्ता साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णकी स्वरूपभूता ह्लादिनी शक्तिकी घनीभूत दिव्य मूर्तियाँ हैं। पद्मपुराणमें श्रीगोपीजनोंके सम्बन्धमें कहा है—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया ऋषिजा देवकन्यकाः।
गोपकन्याश्च राजेन्द्र न मानुष्यः कदाचन ॥

'गोपियोंको श्रुतियाँ, ऋषियोंका अवतार, देवकन्या और गोपकन्या जानना चाहिये। वे मनुष्य कभी नहीं हैं।'

अखिलरससागर रसराजशिरोमणि जगत्पति श्रीभगवान्‌की प्रेयसी इन महाभाग्यवती दिव्यविग्रहधारिणी गोपियोंमें कुछ तो 'नित्यसिद्धा' थीं, जो अनादिकालसे भगवान् श्रीकृष्णके साथ दिव्य लीला-विलास करती हैं। कुछ पूर्वजन्ममें श्रुतियोंकी अधिष्ठात्री देवता थीं, जो 'श्रुतिपूर्वा' कहलाती हैं; कुछ दण्डकारण्यके सिद्ध ऋषि थे, जो 'ऋषिपूर्वा'के नामसे ख्यात हैं; और कुछ स्वर्गमें रहनेवाली देवकन्याएँ थीं, जो 'देवीपूर्वा, कहाती हैं। पिछले तीनों वर्गोंकी गोपिकाएँ 'साधनसिद्धा' हैं। नित्य-सिद्धा गोपीजनोंमें श्रीराधाजी मुख्य हैं, और चन्द्रावलीजी, ललिताजी, विशाखाजी आदि उन्हींकी कायव्यूहरूपा हैं; ये 'गोपकन्या' कहलाती हैं। साधनसिद्धा गोपियाँ पूर्वजन्ममें श्रीकृष्ण-सेवा-लालसासे साधनसम्पन्न होकर इस जन्ममें गोपीगृहोंमें अवतीर्ण हुई थीं और नित्यसिद्धा गोपीजनोंके सत्सङ्ग, सहयोग और सेवनसे दिव्यरूपताको पाकर इन्होंने श्रीकृष्णका दिव्य चरण-सेवाधिकार प्राप्त किया था। न तो ये गोपियाँ परस्त्रियाँ थीं, और न अखिल विश्वब्रह्माण्डके स्वामी, आत्माओंके आत्मा भगवान्

श्रीकृष्ण ही परपुरुष या उपपति थे। प्रेम-रसास्वादनके लिये—प्रेममार्गके साधनकी अत्युच्च भूमिकाके शिखरपर महात्माओंको भगवत्कृपासे जो सिद्धिरूपा चरमानुभूति होती है, उसी अतुलनीय दिव्य प्रेमका वितरण करनेके लिये 'जगत्पति'ने 'उपपति'का, और उनकी नित्यसङ्गिनी नित्यकान्तास्वरूपा शक्तियोंने 'परस्त्री'का साज सजा था। यह रास—यह गोपी-गोपीनाथका मिलन हमारे मलिन मिलनकी तरह गंदे कामराज्यकी चीज नहीं है, पाञ्चभौतिक देहोंके गंदे काम-विकारका परिणाम नहीं है। यह तो परम अद्भुत, परम विलक्षण—जिसकी एक झाँकीके लिये बड़े-बड़े आत्मज्ञानी कैवल्यको प्राप्त महापुरुषगण तरसते रहते हैं—दिव्य लीला है। इसका अनुकरण कोई भी मनुष्य कदापि नहीं कर सकता, चाहे वह कितनी ही ऊँची स्थितिमें हो। इस लीलाका अनुकरण करने जाकर जो पर-स्त्री और पर-पुरुष परस्पर प्रेमका सम्बन्ध जोड़ना चाहते हैं वे तो घोर नरक-यन्त्रणाकी तैयारी करते हैं। सचमुच उनमें सच्चा प्रेम है ही नहीं। वे तो तुच्छ कामके गुलाम हैं, और प्रेमके नामको कलङ्कित करते हैं! सच्चा प्रेम तो एक श्रीभगवान्‌में ही होता है। प्रेममें प्रेमके सिवा और कोई कामना-वासना रहती ही नहीं। और जगत्‌में परोपकारतकके काममें आत्म-तृप्तिकी एक वासना रहती है। जगत्‌का कोई भी जीव आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छा बिना—चाहे वह अत्यन्त ही क्षीण हो—किसीसे प्रेम नहीं करता! और जिसमें आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी वासना है, वह प्रेम प्रेम नहीं है। आत्मेन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे रहित एकनिष्ठ प्रेम तो आत्माओंके आत्मा, हमारे आत्माके भी आत्मा श्रीकृष्णमें ही हो सकता है। जो पर-स्त्री और पर-पुरुष

इन्द्रिय-तृप्तिकी इच्छासे—चाहे वह बहुत सूक्ष्म वासनाके रूपमें ही हो–प्रेमका स्वाँग सजते हैं, वे वस्तुतः अपना महान् अनिष्ट करते हैं। वासना बढ़कर प्रबल रूप धारण करते देर नहीं लगाती। आगमें इंधन डालनेसे जैसे आग बढ़ती है, वैसे ही भोग्य वस्तुकी प्राप्तिसे भोगतृष्णा बढ़ती है। और उसके परिणाममें इस लोक और परलोकमें प्राप्त होते हैं—निन्दा, भय, क्लेश, कष्ट और अनन्त नरक-पीड़ा !

शास्त्र कहते हैं—

यस्त्विह वै अगम्यां स्त्रियं पुरुषः, अगम्यं वा पुरुषं योषिदभिगच्छति, तावमुत्र कशया ताडयन्तस्तिग्मया सूर्म्या लोहमय्या पुरुषमालिङ्गयति स्त्रियञ्च पुरुषरूपया सूर्म्या।

'अर्थात् कोई पुरुष यदि अगम्या स्त्रीमें गमन करता है अथवा कोई स्त्री अगम्य पुरुषसे गमन करती है (अगम्य वही हैं, जिससे विवाह न हुआ हो) तो उनके मरनेपर यमदूत उनको मारते हुए ले जाते हैं और वहाँ जलती हुई लोहेकी स्त्रीमूर्तिसे पुरुषका और पुरुषमूर्तिसे स्त्रीका आलिङ्गन कराते हैं। इस नरकका नाम 'तप्तसूर्मि' है।'

इसके बाद जब स्थूलदेहमें जन्म होता है तो उन्हें कई जन्मोंतक नाना प्रकारके भयानक रोगोंसे पीड़ित रहना पड़ता है।

अतएव इस मायिक जगत्में श्रीकृष्णकी और गोपियोंकी दिव्य लीलाका अनुकरण कदापि नहीं हो सकता, न ऐसा दुःसाहस करना ही चाहिये।

हाँ, जिनके अन्तःकरण परम विशुद्ध हो गये हैं, इस लोक

और परलोकके भोगोंकी तमाम वासना जिनके मनसे मिट चुकी है, जो मुक्तिका भी तिरस्कार कर सकते हैं, ऐसे पुरुषोंमें यदि किन्हीं महापुरुषकी कृपासे श्रीकृष्णसेवाकी लालसा जग उठे और भुक्ति-मुक्तिकी सूक्ष्म वासनातकका सर्वथा अभाव होकर शुद्ध प्रेमा भक्ति प्राप्त हो, तब सम्भव है गोपियोंकी भाँति श्रीकृष्ण उन्हें उपपतिके रूपमें प्राप्त हो सकें। अतएव यदि गोपियोंको आदर्श मानकर उनका अनुकरण करना हो तो वह परम पुरुष श्रीकृष्णके लिये करना चाहिये, न कि हाड़-मांसके घृणित पुतले पर-पुरुष या पर-स्त्रीके लिये।

शरीरसे तो अनुकरण कोई भी नहीं कर सकते। परन्तु भावसे भी, जिनमें जरा भी निजेन्द्रिय-तृप्तिकी वासना है, जो पवित्र और परम वैराग्यकी स्वच्छ भूमिकापर नहीं पहुँच गये हैं, वे पुरुष या स्त्री यदि श्रीगोपी-गोपीनाथकी लीलाओंका अनुकरण करना चाहेंगे तो उनकी वही दशा होगी, जो सुन्दर फूलोंके हारके भरोसे अत्यन्त विषधर नागको गलेमें पहननेवालोंकी होती है। पाञ्चभौतिक देहधारी स्त्री-पुरुषको तो श्रीकृष्णकी लीलाकी तुलना अपने कार्योंसे करनी ही नहीं चाहिये।

इससे मेरा कदापि यह कहना नहीं है कि आपने जिनकी बात लिखी है, उन महात्मामें और उनमें श्रद्धा रखनेवाली स्त्रियोंमें परस्पर शुद्ध भाव नहीं है या कोई अनुचित सम्बन्ध है। मैं तो इतनी बातें इसलिये लिख गया हूँ कि आपके दूसरे प्रश्नोंमें कुछ ऐसी बातें पूछी गयी हैं। आजतक श्रीकृष्ण तथा गोपियोंके नामपर गुरु-शिष्याके रूपमें कम अनर्थ नहीं हुआ, और अब भी कम नहीं हो रहा है। यह सत्य है कि वास्तवमें काम-क्रोधपर विजय पाये हुए यथार्थ महात्मा-

को किसी स्त्रीके साथ दूरसे मिलनेमें कोई खतरा नहीं है। परन्तु आदर्श तो बिगड़ता ही है। और एक बात यह भी है कि अमुक पुरुष काम-क्रोधपर विजय पाये हुए ही हैं, इसका भी क्या प्रमाण है। सत्सङ्ग, भजन और सद्विचारोंके प्रभावसे दीर्घकालतक काम-क्रोध दबे रहते हैं, क्षीण होकर छिप रहते हैं—डरे और दुबके हुए चोरोंकी तरह; और कुसङ्ग पाते ही बेतरह भड़क उठते हैं और साधकको दबा लेते हैं—वैसे ही, जैसे बहुत दिनोंका भूखा बाघ किसी शिकारको दबोचता है। आज ही मुझे एक पत्र मिला है, जिसमें एक वयोवृद्धा विदुषी देवीने अपने खूब प्रसिद्धि पाये हुए अप्रतिम विद्वान् संन्यासी पुत्रके पतनका हाल लिखा है। यदि वह संवाद सत्य है तो बड़ा ही भयानक है, और संन्यासियोंको स्त्रियोंके साथ मिलने-जुलनेका, उनके सम्पर्कमें आनेका कितना बुरा परिणाम होता है—इसको स्पष्ट सिद्ध करनेवाला है। कुछ समय पहलेकी बात है—एक बहुत बड़े प्रसिद्ध महात्मा किसी समय जिन महाराष्ट्र वयोवृद्ध सज्जनको गुरु मानते थे, उनके अंदर वृद्धावस्थामें बुरी तरह विकार पैदा हो गया था और वे बड़ी बुरी मौतके मुँहसे भगवत्कृपासे ही बच पाये थे। इसलिये—जहाँतक हो सके—गुरु-शिष्याके रूपमें भी पुरुषोंका और स्त्रियोंका, चाहे कितना ही पवित्र भाव हो, मिलना-जुलना भयप्रद है, और आदर्शका नाशक तो है ही। खास करके सर्वत्यागी संन्यासियोंके लिये तो यह प्रत्यक्ष अधर्म ही है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने तो अपने बहुत प्रिय शिष्य छोटे हरिदासको एक वृद्धा भक्त-स्त्रीसे चावल माँग लानेके अपराधमें आश्रमसे निकाल दिया था!

इसके अतिरिक्त स्त्रियोंका किसी भी महात्मामें श्रीकृष्णकी भावना करना तो और भी खतरनाक है। श्रीकृष्णके साथ ही गोपियोंका सम्बन्ध आ जाता है और इस सम्बन्धको लेकर—अज्ञान और विषयासक्तिवश गिरते देर नहीं लगती। अतएव मेरी समझसे तो यह व्यवहार सर्वथा आपत्तिजनक ही है!

तृतीय प्रश्नका उत्तर—गीतामें कहे हुए भगवान्‌के 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' (१८।६६) का अर्थ बहुत प्रकारसे किया जाता है। परन्तु मैं मान लेता हूँ कि इसका अर्थ 'सब धर्मोंका त्याग' ही है, और वस्तुतः मैं मानता भी यही हूँ। भगवच्छरणागतिकी एक ऐसी स्थिति होती है, जिसमें भक्त धर्माधर्मके स्तरसे बहुत ऊपर उठ जाते हैं। उनका धर्म ही होता है—धर्माधर्मसे ऊपर उठकर केवल श्रीभगवान्‌के हाथका यन्त्र बने रहना। भगवान् जो करावें सो करना, जैसे नचावें वैसे ही नाचना। परन्तु यह स्थिति सहज ही नहीं प्राप्त होती। पूर्ण वैराग्य होनेपर ही इस स्थितिकी ओर साधक चल सकता है। श्रीमद्भागवतमें श्रीभगवान्‌ने कहा है—

तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥

(११।२०।९)

'जबतक इस लोक और परलोकके समस्त भोगोंसे वैराग्य न हो जाय और भगवान्‌की लीलाओंके श्रवण-कीर्तन आदिमें ही सर्वार्थ-सिद्धिका विश्वास न हो जाय, तबतक कर्म करने चाहिये।' इससे यह सिद्ध है कि पूर्ण वैराग्य तथा भक्तिनिष्ठाकी प्राप्ति हुए बिना जो विधि-निषेध बतलानेवाले शास्त्रोंके शासनका तथा शास्त्रोंके अनुसार

कर्तव्यधर्मका त्याग कर देते हैं, वे बड़ी गलती करते हैं, और परिणाममें उन्हें बहुत कष्ट भोगना पड़ता है। यह सत्य है कि सर्व धर्माधर्मसे ऊपर उठकर श्रीभगवान्‌की अहैतुकी भक्ति पाना ही मुख्य कर्तव्य है। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—

आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपि स्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स सत्तमः॥

(श्रीमद्भा० ११। ११। ३२)

'उत्तम (श्रेष्ठ) वही है जो मेरे बतलाये हुए समस्त धर्माचरणरूप गुणों और अधर्माचरणरूप दोषोंको भलीभाँति त्याग कर मुझको ही भजता है।'

परन्तु ऐसी अवस्था सहसा नहीं प्राप्त होती। इसके लिये अर्जुनकी भाँति अनासक्त और निष्काम होनेकी सतत साधना करनी पड़ती है। स्त्री अपने पतिको क्यों पूजती है? शिष्य गुरुको सेवा क्यों करता है? भगवान्‌को पानेके लिये—पति और गुरुको भगवान्‌का प्रतिनिधि या प्रतीक मानकर! पति या गुरुमें भगवान्‌के दर्शन करके उनकी पूजा की जाती है तभीतक, जबतक जगत्पति नहीं मिल जाते। परन्तु जगत्पतिके मिलनेके लिये इनकी पूजा आवश्यक है। जब पूजा सिद्ध हो जाती है, प्रत्यक्ष जगत्पति मिल जाते हैं, तब इनकी पूजाका कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। फिर गोपियोंकी भाँति लज्जा, धैर्य, कुल, मान, भय,—सबका त्याग कर, धर्माधर्मसे ऊपर उठकर श्रीकृष्णको ही परम प्रियतम घोषित करनेमें आपत्ति नहीं होती। परन्तु पहले ऐसा नहीं किया जाता। पहले तो उनका प्रतिमापूजन ही होता है। अवश्य ही जो स्त्री भगवान्‌को भूलकर पतिकी या जो शिष्य

भगवान्की परवा छोड़कर गुरुकी सेवा करते हैं, वे पति या गुरुकी सेवाके फलमें नश्वर वस्तु ही पाते हैं, भगवान्को नहीं पाते। इसलिये उनका भी उद्देश्य तो भगवत्प्राप्ति ही होना चाहिये। तथापि छतपर चढ़नेके लिये जैसे सीढ़ियोंकी जरूरत होती है, वैसे ही 'सर्वधर्मत्याग' रूपी परम धर्मतक पहुँचनेके लिये धर्मपालनकी आवश्यकता होती है। इसलिये जबतक भोगोंमें पूर्ण वैराग्य नहीं है, और जबतक भक्तिमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है, तबतक सर्वधर्मत्यागकी कल्पना नहीं की जा सकती।

गुरु-सेवन तो उत्तम है, परन्तु धर्मको मानते हुए—धर्मकी रक्षा करते हुए ही ! लोकनिन्दा यदि धर्मसम्मत है, तो लोकनिन्दासे भी डरना ही चाहिये। मेरी समझसे तो स्त्रीको गुरु करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। पति और श्रीभगवान् ही उसके गुरु हैं। और गुरु करना नितान्त आवश्यक ही हो तो पतिकी आज्ञासे धर्मसङ्गत, शास्त्रसम्मत प्रकारसे ही करना चाहिये। आजकल जमाना बहुत खराब है। बहुत सँभलकर फूँक-फूँककर पग धरना चाहिये। चारों ओर गरीब भेड़की खालमें खूँखार भेड़िये भरे हैं। इसीसे ब्रह्मज्ञान और भक्तिके नामपर व्यभिचार और पाप भी बढ़े जा रहे हैं !

(६२)

बर्ताव सुधारनेके उपाय

आपने लिखा कि 'मेरा स्वभाव तामसी होता चला जाता है, सबसे अच्छा व्यवहार नहीं होता। ऐसा कौन-सा साधन है जिससे

स्वभाव बदल जाय और सबसे सात्त्विक व्यवहार होने लगे ?' सो ठीक है। सात्त्विक व्यवहार न होना आपको बुरा लगता है और सात्त्विक व्यवहार हो, ऐसी आपकी इच्छा है। एक तो यही स्वभाव बदलनेमें बड़ा कारण हो सकता है। मनुष्यको जो चीज वस्तुतः बुरी मालूम होने लगती है और उसका रहना काँटेकी-ज्यों चुभता है, तब वह चीज धीरे-धीरे छूट ही जाती है। और जिसकी सच्ची चाह होती है, वह चीज आगे-पीछे मिलती ही है। परन्तु बात यह है कि किसीके साथ बुरा बर्ताव करना यह असलमें 'स्वभाव' नहीं है। आत्माका तो स्वभाव है आनन्द और प्रेमसे परिपूर्ण ! वह स्वयं आनन्दमय है और इसलिये आनन्द ही वितरण करना चाहता है। न यह अन्तःकरणका ही धर्म है। यह तो बाहरसे आया हुआ दोष है, जो सावधानीके साथ प्रयत्न करनेपर नष्ट हो सकता है। निम्नलिखित बातोंपर ध्यान देकर चेष्टा करनी चाहिये। साधना या चेष्टा जबतक लगनसे नहीं होती, तबतक फल नहीं होता। पथ्य-परहेजका ख्याल रखते हुए सावधानीके साथ दवा लेनेसे ही रोग मिटता है।

१-सब जीवोंमें भगवान् बसते हैं, भगवान् ही सब जीव बने हुए हैं; फिर बुरा बर्ताव किसके साथ किया जाय।

अब हौं कासों बैर करौं।

कहत पुकारत हरि निज मुख तें घट-घट हौं बिहरौं ॥

हम किसीके भी साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो वह श्रीभगवान्‌के साथ ही करते हैं।

२-बुरा बर्ताव करनेसे भगवान् नाराज होते हैं, क्योंकि सभी

जीव भगवान्‌की सन्तान हैं। किसीके बालकको कष्ट पहुँचानेसे मा जरूर नाराज होगी।

३–बुरा बर्ताव करनेसे द्वेष, वैर, क्रोध, विषाद आदि दोषोंका जन्म-जन्मान्तरतक बड़ा विस्तार होता है; इससे अपनी और जगत्‌की बड़ी हानि होती है—लौकिक भी और पारमार्थिक भी।

४–बुरा बर्ताव हम तभी करते हैं जब कोई हमें बुरा लगता है। बुरा लगता है दोषदृष्टिसे। दोषदृष्टि सदा ही द्वेष और जलन पैदा करती है, इससे अपनी बड़ी हानि होती है। जिसको सबमें दोष देखनेकी आदत पड़ जाती है, वह जगत्‌से कुछ सीख ही नहीं सकता और सदा जला करता है, न अच्छे रास्तेपर ही जा सकता है। क्योंकि उसे रास्ता बतलानेवालोंमें और रास्तेमें भी दोष-ही-दोष दीखता है।

५–जब हमारे साथ कोई बुरा बर्ताव करता है तो हमें दुःख होता है; इसी प्रकार हम जब दूसरेके साथ बुरा बर्ताव करते हैं तो उसे भी दुःख होता है। हम स्वयं तो यह चाहें कि सब हमसे अच्छा बर्ताव करें और हम दूसरोंसे बुरा बर्ताव करें, यह अधर्म है। शास्त्र कहते हैं—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥

'धर्मका सार सुनो और सुनकर उसे धारण करो। जो बात अपनेको प्रतिकूल लगती है, वह दूसरोंके साथ कभी न करो।'

६–अच्छे बर्तावसे प्रेम बढ़ता है, बुरे बर्तावसे वैर।

७–बुरा बर्ताव कामना, अभिमान, द्वेष और प्रतिकूल भावना

आदिके कारण होता है; अतएव इनका सावधानीके साथ त्याग करना चाहिये।

८–भगवान्‌से कातर प्रार्थना करनी चाहिये कि हे भगवन्! किसी भी हेतुसे मैं किसी भी प्राणीके साथ कभी बुरा बर्ताव न करूँ।

९–श्रीचैतन्य महाप्रभुकी यह वाणी याद रखनी चाहिये—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

'अपनेको एक तिनकेसे भी बहुत छोटा समझनेवाले, वृक्षसे भी अधिक सहनशील, स्वयं अमानी और दूसरोंको मान देनेवाले पुरुषोंके द्वारा हरि सदा कीर्तनीय हैं।' इस प्रकारका भाव हो जानेपर सहज ही किसीसे बुरा बर्ताव नहीं होगा।

और भी बहुत-सी बातें हैं। इनमेंसे किसी भी एक या एकाधिक बातपर पूरा खयाल रखनेसे बुरा बर्ताव दूर हो सकता है। संसारमें हम सभी मुसाफिर हैं। आपसमें हिल-मिलकर, एक दूसरेके दोषोंको सहकर परस्पर सबकी सेवा करते हुए रहेंगे तो आरामसे मुसाफिरीके दिन कटेंगे, और नये मुकद्दमे नहीं लगेंगे। और यदि लड़ते-झगड़ते रहेंगे तो मुसाफिरी भी भयदायक और अशान्तिरूप हो जायगी तथा बीचमें ही नये-नये फौजदारीके मुकद्दमोंमें फँसकर हैरान और परेशान भी होंगे!

तुलसी या संसारमें भाँति भाँतिके लोग।
सबसे हिल मिल चालिये नदी नाव संजोग॥

तेरे भावें जो करौ भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठकर अपनो भवन बुहार॥
बुरा जो देखन मैं गया बुरा न पाया कोय।
जो तन देखा आपना मुझ-सा बुरा न कोय॥

श्रीभगवान्‌का स्मरण और जप निरन्तर करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

---

(६३)

समाजका पाप

एक पढ़ी-लिखी बहिनका बड़ा ही करुणापूर्ण पत्र मिला है। पत्रसे पता लगता है बहिन बहुत विचारशील हैं और उच्च पातिव्रतके आदर्शको मानती हैं; परन्तु लगातार दुर्व्यवहारसे इस समय घबड़ा-सी गयी हैं। लिखती हैं—'मैं भारतकी अभागी स्त्रियोंमेंसे ही एक हूँ।...मैंने प्राचीन भारतकी आदर्श नारियोंका आदर्श सामने रखकर ही....पतिगृहमें प्रवेश किया।....सासूजीका स्वभाव अत्यन्त उग्र था....मैं हर तरह उनके अनुकूल चलती थी....किन्तु फिर भी वे प्रसन्न न रहती थीं। मैं कुछ तो स्वभावसे ही भीरु हूँ, तथा कुछ विचार इस प्रकारके थे कि 'जो मेरे सर्वस्व हैं, ये उन्हींकी जननी हैं, यह एक बड़ा गुण और सारी बातोंपर परदा डालनेके लिये पर्याप्त था, इसीसे मैं उनका मन देखती रहती थी। मा-बेटेमें परस्पर कलह न हो, इसी डरसे उनकी बात पतिसे छिपा रखती थी... धीरे-धीरे फल यह हुआ कि मेरे स्वामीकी मुझपर अरुचि

बढ़ने लगी। उनका कहना था मैं माका पक्ष लेती हूँ—माका कहना था कि मैं पतिको सिखाकर उनसे लड़ाती हूँ, और इस तरह मैं (सचमुच निर्दोष होनेपर भी) दोनोंकी सहानुभूति खो बैठी ! सब तरफसे प्रतिसमय मुझपर वाग्बाणोंकी वर्षा होती रहती।....मेरी सेवामें पतिको अवगुण-ही-अवगुण दीखते।...मैं अधिक दुखी होनेपर एकान्तमें रोकर आँखें पोंछ फिर तैयार हो जाती ! सुननेमें शायद कुछ नहीं लगता; किन्तु मेरा वह समय कितना कठिन था, उसे शब्दोंमें कैसे बताऊँ ? आधार मेरे दो ही थे—'एक मेरा आदर्शवाद और दूसरा पतिका स्वच्छ चरित्र।'

इसके बाद पतिके चरित्रमें दोष आनेकी बात लिखकर वे लिखती हैं–'मैंने हर तरह चेष्टा कर देखी, प्रेमसे समझाया, नम्रतासे विनय की, बुराइयाँ दिखायीं, रोयी, कलपी, सभी कुछ किया परन्तु कुछ न हुआ.......। आजकल वेश्याओंसे भी अधिक जुल्म 'सोसाइटी गर्ल्स'ने ढा रक्खा है। अत्यन्त लज्जाकी बात है किन्तु आजकलके बिगड़े हुए पुरुष वेश्याओंसे भले घरोंकी कन्याओंको ही अधिक पसंद करते हैं और वे (कुमारियाँ) भी सोसाइटीमें बैठकर सभी कुछ खुशीसे करती हैं। कालेजकी लड़कियोंमें शेक्सपियरको लेकर दुर्भावना फैली हुई है। 'कुछ भी पाप नहीं–मनुष्यका सोचना ही पाप-पुण्यको गढ़ना है। व्यभिचार पाप नहीं, मन-बहलाव है।' दया आती है, घृणा भी और अत्यन्त वेदना भी।.......अब मैं विश्वास करने लगी हूँ कि मेरा एकमात्र कल्याण अपनेको भगवान्के चरणोंमें समर्पित कर देनेमें ही है। परन्तु जब-जब मैं भगवान्की रूप-माधुरी आँखोंमें बिठाना चाहती हूँ तभी-तभी जैसे बरबस

भगवान्‌की मूर्तिमें पतिका स्वरूप दीखने लगता है। या ऐसा कहूँ कि उन्हींकी कल्पना करने लगती हूँ और मन उपासनामें नहीं लगता।'

अन्तमें लिखती हैं—'...पतिने मेरे साथ ऐसे बर्ताव किये किन्तु जिस दिन उन्हें दिनभरके बाद भी न देख पाऊँ तो हृदय विकल हो उठता है। एक अभाव-सा प्रतीत होता है। वे जैसे भी हैं किन्तु मैं उन्हें देखती रहूँ, यही मनमें रहता है। यदि दो-चार दिन भी किसी कारणवश उपासनाके लिये पूजागृहमें न जाऊँ तो हृदयमें उतनी विकलता नहीं होती।.......आह! जितना प्रेम स्वामीसे करती हूँ, उतना ही यदि भगवान्‌से कर सकूँ...'

लंबे पत्रमेंसे कुछ ही अंश ऊपर उद्धृत किया गया है। भारतकी इन आदर्शपर चलनेवाली देवियोंको धन्य है। मैं तो इनके पत्रके उत्तरमें इतना ही लिखना चाहता हूँ कि आप अपने आदर्शपर दृढ़तासे स्थिर रहें। जरा भी शङ्का-सन्देह न करें। दूसरोंकी ओर देखनेसे अपने आदर्शकी रक्षा नहीं होती। आदर्शकी रक्षा तो एकाङ्गी ही होती है, और होती है अपने ही बलिदानसे! आजकलके पाप-पुण्य न माननेवाले स्वेच्छाचारी पुरुष और कालेज गर्ल्सकी बुराइयोंका फल समाजके लिये बहुत ही भयानक होगा। इससे समाजमें ऐसी भयानक दुःखकी आग भड़केगी जो सबको जला देगी—वैसे समय आप-सरीखी देवियोंकी यह तपस्या ही उस आगसे किसी हदतक समाजको बचानेमें समर्थ होगी। आप अपनी तपस्यासे कभी मुँह न मोड़ें। भगवान्‌पर अटल विश्वास रक्खें, निश्चय समझें कि—इस जन्ममें नहीं तो, अगले जन्ममें—सत्यकी और सतीत्वकी विजय अवश्य होगी। 'न

हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ॥' (गीता ६ । ४०) भगवान्ने अर्जुनसे कहा है—'कल्याणकर कर्म करनेवाला कोई भी मनुष्य दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता।' पता नहीं किस कर्मके फलस्वरूप आप इस समय कष्ट पा रही हैं। अवश्य ही यह कष्ट आपके इस जीवनके पवित्र आदर्शवाद, ईश्वरविश्वास, सहनशीलता, नम्रता और भलेपनका परिणाम कदापि नहीं है। इनका सुन्दर परिणाम जब सामने आवेगा, तब आप आनन्दसे पूर्ण हो जायँगी और साथ ही उसका सुन्दर प्रभाव आपके पतिदेवके लिये भी परम कल्याणकारी होगा। आप जहाँतक बने—अलग रहनेकी भावना छोड़ दीजिये। आपके विचार बहुत सुन्दर हैं। भगवान्से प्रार्थना कीजिये, वे सबको सुबुद्धि देकर सन्मार्गपर लगावें। भगवान्के नामका जप कीजिये और मन-ही-मन पतिदेवके परम-कल्याणकी भावना करती रहिये। विश्वास कीजिये—वृन्दावन-विहारीमें आपकी लगन सच्ची होगी तो वे अवश्य आपको अपनावेंगे। अपना विशुद्ध प्रेम देंगे और उससे आपका जीवन सफल हो जायगा। इस समय तो आपका यह तप हो रहा है। सचमुच इसे कष्ट न समझकर तप मानिये।

'हारिये न हिम्मत बिसारिये न राम।'

—:※:—

(६४)

प्रेमके नामपर

आपका कृपापत्र मिला। उत्तर लिखनेमें कुछ देर [illegible] इधर काम भी ज्यादा रहा और स्वभावदोष तो है [illegible] कीजियेगा।

आपने अपने मनकी हालत बताकर मेरी सम्मति पूछी, सो इस सम्बन्धमें मैं क्या कहूँ ? यदि आपके मनमें पवित्रता है और उधरसे भी कोई विकार नहीं है तो बहुत ही अच्छी बात है, परन्तु जहाँतक मैं समझ सका हूँ—इस स्पष्टोक्तिके लिये आप क्षमा कीजियेगा,—आपलोगोंका प्रेम पवित्र नहीं है। जिस प्रेममें भोग-सुखकी इच्छा है, संयमका अभाव है, कर्तव्यविमुख होकर केवल पास रहने या देखते रहनेकी ही चेष्टा है, जरा भी मानसिक विकार है, स्वार्थ-साधनका प्रयास है, और परस्पर पवित्रता बढ़ानेकी जगह इन्द्रिय-तृप्तिकी सुविधा खोजी जा रही है, वह प्रेम कदापि पवित्र नहीं हो सकता।

प्रेमका प्रधान स्वरूप है, निज-सुखकी इच्छाका सर्वथा त्याग। भोगप्रधान पाशविक इन्द्रिय-सुखका प्रयास तो पवित्र प्रेमके नामको कलङ्कित करनेवाला पाप है। प्रेम सदा देता ही रहता है, जरा भी बदला नहीं चाहता। असलमें जिस प्रेमके आधार भगवान् नहीं हैं वह यथार्थ प्रेम नहीं है। प्रेम सदा स्वार्थशून्य है, इन्द्रियविकाररहित पवित्र है, भोगेच्छाके लिये उसमें स्थान नहीं। आजके मनुष्यने तो मोहको ही प्रेमका नाम दे रक्खा है, और इसीका फल है महान् [illegible]क अशान्ति और दारुण दुःखभोग !

सबको [illegible]नका परस्पर पवित्र प्रेम है, उनको परस्पर पवित्रता, पुण्य तपस्या [illegible]दाचरणकी उन्नतिमें सहायक होना चाहिये। परस्पर आत्म-होगी। [illegible] क्रियात्मक अध्ययन करना चाहिये। त्याग और अटल विश्वा[illegible]की वृद्धि करनी चाहिये। आपके पत्रसे पता लगता है कि अगले जन्ममें ये बातें रुचतीं ही नहीं। आप तो कल ही नाश

हो जानेवाली चमड़ीके रूपपर और काल्पनिक गुणोंपर मोहित हैं। कुछ ही कालमें यदि ये गुण न दिखायी दें तो आपका प्रेम कच्चे सूतके धागेकी तरह टूट जा सकता है। यह भी कोई प्रेम है ? प्रेम कभी टूटता ही नहीं। घटता भी नहीं। जितना है उतना ही नहीं रहता—वह तो प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। उसमें रूप-गुणकी अपेक्षा नहीं है, वह तो प्रेमस्वरूप अच्युत परमात्माकी पवित्र देन है। आप इस मोहका त्याग कीजिये, इसीमें भलाई है। नहीं तो प्रेमके नामपर कामके कलुषित नरक-कुण्डमें जा गिरियेगा। सावधान !

—:०:—

(६५)

प्रेमके नामपर पाप

पत्र मिला। आपने जो एक घटना लिखी और उसपर मेरी सम्मति चाही, यह आपकी कृपा है। मेरी समझसे तुम्हारे यह विदुषी बहिन और आपके पढ़े-लिखे मित्र दोनों ही बड़ी भूल तो [illegible] कर रहे हैं। सच्चे प्रेममें देहका आकर्षण क्यों होने लगा। कि—कुम [illegible] प्रेम है तो दोनोंमें भाई-बहिनका पवित्र सम्बन्ध रहना चा[illegible]र होना [illegible] जमाना था, जब राजपूत देवियाँ राखी भेजकर किसीको भी[illegible]की [illegible] भाई वरण कर लेती थीं और वह भाई रक्षाबन्धनके पवि[illegible] है। [illegible] बँधकर उस बहिनके लिये अपने प्राणोंको न्योछावर [illegible] वि[illegible] था। किसी विवाहिता स्त्रीके बाह्य सौन्दर्यको देखकर [illegible] वी[illegible] हो जाना, और किसी पुरुषकी युनिवर्सिटीसे मिली [illegible] भ[illegible] और उसके ढंग-ढाँचेको देखकर अपनी कुलमर्या[illegible]

लज्जा और सबसे बढ़कर महत्त्वकी वस्तु सतीत्वको नष्ट करनेपर उतारू हो जाना—कदापि प्रेम नहीं है, यह तो निरी पाशविकता है। दुःख है कि हमारे पढ़े-लिखे नवयुवक और नवयुवतियाँ आज धर्मकी, सदाचारकी और परलोककी कुछ भी परवा न करके मोह-वश अपनेको भीषण नरकाग्निमें झोंक रहे हैं! आप अपने मित्र और विदुषी बहिनको समझा दीजिये कि वे इस पाप-बुद्धिका त्याग कर दें, और प्रेमके नामपर मुझ-जैसे व्यक्तिसे अपने कुविचारोंका समर्थन प्राप्त करनेकी चेष्टा न करें। जिस भारतमें पवित्र सतीधर्मको स्त्रियाँ अपना परम गौरव समझती थीं और सतीत्वकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते धधकती आगमें सहर्ष कूद पड़ती थीं, उसी भारतकी विदुषी कहानेवाली नवयुवतियाँ आज अपने सारे गौरवको खोकर पर-पुरुषोंके मोहमें फँसनेको पवित्र प्रेम बतलाकर प्रेम शब्दको कलंकित कर रही हैं, यह बड़े ही परितापका विषय है!

[illegible]हाँ [illegible]त्रमें यह पढ़कर कि और भी कई कुमारी और विवाहिता [illegible] प्रे[illegible] ऐसा ही विचार कर रही हैं—बहुत ही खेद हुआ। [illegible]पवित्र है, [illegible] होनेका यही परिणाम है? भगवान् ऐसी विद्या और मोहको [illegible] आर्यदेवियोंको बचावें!

[illegible]से [illegible]

सबको [illegible]पने ये बातें बहुत ही सद्भावसे पूछी है, यह ठीक है, परन्तु मैं तपस्या [illegible] इन बातोंका दूसरा उत्तर नहीं दे सकता। मेरा तो विश्वास होगी। [illegible]ारी पाप-वृत्तियोंका परिणाम बहुत ही बुरा होगा। अटल विश्वासकी [illegible]ता, परमात्माके न्याय, परलोकके सुख-दुःख-भोग एवं अगले जन्ममें ये [illegible]स करनेवाला होनेके नाते मैं यह कह सकता हूँ

कि, ऐसा करनेवाले, करानेवाले और ऐसी बातोंका समर्थन करने-वाले सभी जन्मान्तरमें बड़ा भारी दुःख उठावेंगे !

याद रखिये, यह प्रेम नहीं है, महापातक है। और इससे बड़ी सावधानीसे बचना चाहिये। जो भाई इस कामके लिये तैयार हुए हैं, आपने लिखा है; वे मुझमें और मेरी बातोंमें श्रद्धा रखते हैं सो यह उनकी कृपा है। मेरा उनसे या आपसे कोई साक्षात् परिचय न होनेके कारण मैं तो कुछ नहीं कह सकता, परन्तु यदि मेरी बातमें जरा भी उनका विश्वास हो तो उन्हें तुरंत अपना विचार सर्वथा छोड़ देना चाहिये, और प्रेम ही हो तो उसे पवित्रतम बनाकर उन्हें भाई-बहिनके रूपमें रहना चाहिये। मैं तो कहूँगा कि शारीरिक कोई भी सम्बन्ध जोड़कर प्रेम रखनेकी अपेक्षा केवल आत्मासे आत्माका प्रेम रहना और भी निरापद, उत्तम और सराहनीय है। एकस्थानमें रहना, मिलना-जुलना और परस्पर प्रेमपत्रोंका व्यवहार करना कतई बंद कर देना चाहिये। दोनोंको अपने-अपने घरों[illegible]ष और सुखके साथ रहकर भगवान्‌का भजन करते हुए एक[illegible] पारमार्थिक उन्नति चाहनी चाहिये, सच्चा प्रेम तो इसीम[illegible]

हमारी आर्यसंस्कृतिका तो यह आदेश है कि—कुम[illegible] वर-कन्याके निर्वाचनमें माता-पिताका ही अधिकार होना [illegible] और इसीमें लाभ है। उत्तम विवाह और गृहस्थाश्रमकी स[illegible] लिये माता-पितापर ही यह भार रहना हितकर है। [illegible] अपनी सन्तानमें सहज स्नेह होता है, वे स्वाभावि[illegible] हित चाहते और उसके भविष्य-जीवनको सुखी[illegible] [illegible]को अवस्थाकी अधिकताके कारण अनुभ[illegible]

इसलिये उनके द्वारा जो सम्बन्ध किया जायगा, उसमें केवल क्षणिक मोह नहीं होगा। उसमें वर-कन्याके कुल, शील, स्वास्थ्य, चरित्र, स्वभाव, घरकी आर्थिक स्थिति और धर्मभाव आदि सभीकी यथासाध्य जाँच-पड़ताल होगी और धीरताके साथ कार्य सम्पन्न होगा। यद्यपि इसमें उनकी भूल भी हो सकती है और कोई-कोई माता-पिता स्वार्थवश इन बातोंका विचार नहीं भी करते, परन्तु यह अपवादरूप है। सन्तानके प्रति स्वाभाविक स्नेह प्रायः उन्हें सन्तानका अहित-चिन्तन करनेसे रोकता ही है। अतएव माता-पिताके द्वारा जो वर-कन्याका निर्वाचन होता है, वह प्रायः निर्दोष और उत्तम होता है। उसमें क्षणिक आवेग नहीं है। केवल चमड़ीके रंगका परीक्षण नहीं है। परन्तु इसके विपरीत, युवावस्थामें युवक-युवतियोंका जो अपने लिये कन्या-वरका निर्वाचन होता है वह तो अधि[illegible]में भूलभरा होता है। उनमें बड़ी उम्रका अनुभव नहीं है। [illegible] [illegible]हा जोश, कामवासना, इन्द्रियसुखकी लालसा, रूपका [illegible] [illegible]ल्दबाजी आदि उनकी विचारशक्तिको ढक लेते हैं [illegible] पवित्र [illegible]तंगे बनकर रूपकी आगमें पड़कर भस्म हो जाते हैं। मोह[illegible]जकलके वातावरण और कालेजोंकी दूषित सहशिक्षाने तो [illegible]ससे[illegible]नक स्थिति उत्पन्न कर दी है। स्कूल-कालेजोंकी शिक्षाका सबको [illegible] है जो उक्त विदुषी बहिन और आपके मित्र भाई इस तपस्या [illegible] रहे हैं। भला, जो अभीतक ससुराल गयी ही नहीं, होगी। [illegible] [illegible]ीतक बातचीत ही नहीं की, उसने कैसे जान अटल विश्वा[illegible]की रखे होनेपर भी उसके योग्य नहीं हैं और अगले जन्ममें ये उसके पति होने योग्य हैं? ससुराल ज[illegible]